प्रकाशक
साधना-सदन
इलाहाबाद

अगस्त, १९४६
११००

मुद्रक —
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस।
८२७-४५

रस्किन की गहरी विचारशीलता और

सत्यान्वेषण वृत्ति से

हम भारतीयों में सबसे पूर्व और

सबसे अधिक प्रभावित

विश्व-विभूति

गांधीजी के चरणों में

एक नम्र भेंट

अनुवादक

और

प्रकाशक

दो शब्द

सत्य और शिव के एक प्रकाशपिण्ड-सा रस्किन हमारी आँखों को चकाचौंध कर देता है। हमारे सोचने-समझने की पद्धति पर उसका प्रहार निर्मम व्यङ्गों की वर्षा करता है। आधुनिक सभ्यता के प्रमाद और पाखण्ड को उसकी वाणी यों अनावृत कर देती है जैसे सत्य-शोधक प्रवंचनाओं को चीर कर अपने अन्तःसुख के दर्शन करता है।

रस्किन और टाल्सटाय सत्यानुभूति के दो स्वरूप हैं। रस्किन की वाणी कलानुभूति से भावनामय एव अलंकृत है; उसमें सत्य सौन्दर्य के आलम्बन से व्यक्त हुआ है। टाल्सटाय की सत्यानुभूति स्वतत्र है, वह अधिक गहरी है। जीवन-निर्माण के वास्तविक आधार की एक गहरी झलक रस्किन मे दिखाई पड़ी, उसने ईसाईधर्म के प्रेमसिद्धान्त को समझा; सर्वोदय की प्रारंभिक अनुभूतियाँ उसी से आधुनिक जीवन को प्राप्त हुई पर अहिंसा का सर्वग्राही रूप उसमें वैसा विकसित नहीं जैसा टाल्सटाय मे है। इसलिए वर्तमान युद्ध के अनीतिमूलक आधार को समझकर भी रस्किन शस्त्र युद्ध से कहीं-कहीं मोहित है। फिर भी वर्तमान व्यापार, व्यवसाय, कर्म, युद्ध इत्यादि के मूल स्वरूप का जैसा दर्शन उसकी वाणी में है वह अन्यत्र अलभ्य है। विश्ववंद्य महात्मागाधी ने सर्वोदय का सामाजिक जीवन-सिद्धान्त उन्हीं से ग्रहण किया है।

हमारी बहुत दिनों से इच्छा थी कि टाल्सटाय, ह्विटमैन, रोलाँ इत्यादि की रचनाओं के प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी को भेंट करें। उसी दीर्घकालिक इच्छा की यह एक सिद्धि है। रस्किन की परम अलंकृत और रूपकमयी रचनाओं का भाषान्तर कार्य अत्यन्त कठिन है। फिर जिन भूमिकाओं

पर और जिन परिस्थितियों में उनका निर्माण हुआ है वे अपने रूप और गठन मे विदेशी, अतः हमारे लिए अपरिचित, है। फिर भी हमे सन्तोष है कि श्री विजयवर्गीय ने मन लगाकर यह कार्य किया है; वे कोई पेशेवर अनुवादक नहीं, रस्किन के मननशील पाठक हैं इसलिए उन्होंने उसके विचारों के मूल मे प्रवेश करने की चेष्टा की है और एक सीमा तक सफल भी हुए हैं। मैंने भी मूल से मिलाकर इन्हें यथासभव प्रामाणिक बनाने की भरसक चेष्टा की है। आशा है, हिन्दी के विचारशील पाठक और वे युवक, जो जीवन का उच्च भूमिकाओं पर निर्माण करना चाहते हैं, इस पुस्तक, से लाभ उठायेंगे।

—श्रीरामनाथ 'सुमन'

इसमें क्या है ?

प्रारम्भिक [भूमिका; समर्पण आदि]

विजय-पथ

रस्किन और विजय-पथ

आंग्ल-संसार के वर्तमान जीवन ने जिससे अपने प्रकाश की किरणें पाई, विचारो का वह प्रचण्ड सूर्य उन्नीसवी सदी के आरम्भ में उदय हुआ था। जडवाद जब पश्चिम के गले से लिपट कर उसे डॅसना चाहता था, तभी वायुमण्डल मे वह दिव्य मंत्र गूॅज उठा। सत्य पर कालिमा ने जब अपनी स्याही पोत दी, तभी उसकी (सत्य की) आवाज़ को बुलन्द करने वाले उस महात्मा का जन्म हुआ। कला, साहित्य, व्यापार आदि जब दूषित हृदय के प्रकटीकरण मात्र रह गये, तभी उनके प्राणो में शिवत्व का सचार करने वाली वह अलौकिक आभा फूट पडी। दुनिया जब एक थोथे अर्थशास्त्र की पैनी धार पर मानवता को रेत रही थी, समाज रूढि-वाद के फन्दे में फॅसकर अपने जीवन की अन्तिम घडियाॅ गिन रहा था, कला दूषित भावनाओ के बवंडर मे पडकर अपनी अस्मत की धज्जियाॅ उडा रही थी, साहित्य में मखौल और व्यापार में कपट का दौर-दौरा था, तभी 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का शुभ सन्देश लेकर वह दिव्यात्मा अवतरित हुई। उन्नीसवी सदी के मध्य में जिसने अपने लेखो और भाषणो-द्वारा अवरुद्ध मानसिक जडता को झकझोर कर शुद्ध मानवता का पाठ पढाया, ईसा के सिद्धान्तो मे लगे ज़ंग को हटाकर उनमें नवजीवन का संचार किया, निडरता-पूर्वक दुनिया के काले करनामो की पोल खोली, कला और साहित्य द्वारा समाज को उन्नत और उदार बनाने की शिक्षा दी, न्याय की नींव पर जीवन के महत्त्व को खडा करने का आदेश दिया, वर्तमान समाज के श्रेणी-भेद-सर्प को समाजवाद के मन्त्र से नष्ट करने की क्रिया बतलाई, मज-दूरो को पतनोन्मुख करने वाले पूॅजीपतियों के पापो का भडाफोड किया,

मिलो और मिल-मालिको के उन्नत प्रासादो से ज्वलित नगरों की निन्दा कर ग्राम और ग्रामोद्योगों के स्वस्थ वायुमंडल के गीत गाये, और—और—निर्दोष जनता को युद्ध के अंधड में ढकेल कर राष्ट्र की छाती पर मौज से क्रीडा करने वाले नर-पिशाचो के नारकीय जीवन की जिसने भर-सक भर्त्सना की,—ऐसा था वह इंगलैंड के हृदय मे जन्म लेनेवाला महात्मा, जिसे दुनिया जॉन रस्किन कहती है।

× × ×

जॉन रस्किन का जन्म ता० ८ फरवरी सन् १८१९ को लन्दन में हुआ। उसके पिता एक सुरुचिसम्पन्न धनी व्यापारी और माता एक धर्म-परायणा साध्वी थीं। इन दोनों का उसके जीवन पर अमिट प्रभाव पडा है। कुछ अंशो में इसी प्रभाव के कारण उसकी प्रतिभा पूर्ण विक-सित होने से वंचित रह गई। माता ने अपनी देख-रेख मे उसे बढ़ने दिया। जीवन के प्रभात मे ही उसे बाइबिल के दर्शन हुए जिसकी किरणों को आगे चलकर हम उसके लेखो, लेखन-शैली और सिद्धान्तो में सर्वत्र बिखरा पाते हैं। माता तो उसकी यह चाहती ही थी कि उसका यह एकमात्र पुत्र अच्छा पादरी हो पर उसकी यह इच्छा अपूर्ण ही रही। रस्किन ने ८–९ वर्ष की अवस्था में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया और आंग्ल-भाषा के सर्वोत्तम साहित्यिकों—पोप, स्काट आदि को उसने पढ़ा। वह अपूर्व प्रतिभाशाली युवक था। उसकी सौन्दर्य-भावना प्रकृति का संसर्ग पाकर उमड़ पड़ी। पिता के साथ उसने यूरोपीय यात्राएँ की और पहाड़ों, सर-सरिताओं, झरनों आदि के जीवन मे अपने को एकताल किया। वहां उसने महान स्थापत्य-कला के नमूनों की झलक देखी। चित्रकला में टरनर के चित्रों ने उसे सर्वाधिक प्रभावित किया। कला-सौन्दर्य के साथ-साथ उसकी दृष्टि में सत्य और शिव की अभिव्यक्ति भी है।

कला को 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की कसौटी पर रखकर उसने अपने अमरग्रन्थ 'माडर्न पेंटर्स', 'दि स्टोस ऑव् वेनिस' और 'दि सेवेन लेम्प्स ऑव् आर्किटेक्चर' का निर्माण किया। उसका कहना है—"सुन्दर स्थापत्य-कला मुख्यतः धार्मिक होती है। अधर्मी और असभ्य जनता के बजाय श्रद्धालु एवं गुणी जनता द्वारा ही उसका निर्माण होता है।" इन्ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन हमें उसके इन ग्रन्थो मे मिलता है। सत्य और शिव धर्म के दो विशिष्ट अंग है। सत्य की नीव पर जनता का कल्याण ही धर्म की व्याख्या है। कला-निर्माण भी जीवन को उन्नत और उदार बनाने के लिए होता है। इन पुस्तकों का लेखन-काल सन् १८४३ से १८६० तक है।

तत्पश्चात् उसने 'कला' मे 'जीवन' को जोड कर 'जीवन-कला' की व्याख्या मे अपना शेष जीवन बिताया। धर्म, राजनीति, अर्थ-शास्त्र आदि को उसने 'सर्वोदय' ❀ की कसौटी पर कसने की कोशिश की। शारीरिकता पर आत्मा की अन्तर्ज्योति का अंकन किया। धन पर सेवा की महत्ता आरोपित की। तत्कालीन अर्थशास्त्र को कोरे पूँजी विस्तार के साधनों का लेखा-जोखा देखकर उसने उसे शास्त्र मानने से इन्कार कर दिया। उसकी राय मे वह केवल मजदूरों के खून को चूसने वाले मच्छरों—धनपतियों के लिए पूँजी-विस्तार की कला का आख्यानक है। उसे जडवादी सभ्यता का हिमायती घोषित कर उसने उस पर मानवात्मा की हत्या का आरोप लगाया। उसकी दृष्टि से वह तभी शास्त्र

❀ 'सर्वोदय' से तात्पर्य है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःख माप्नुयात ॥

कहला सकता है जब धन-संचय के साथ-साथ उसके उपार्जन-कर्ता मजदूरों के लिए धन-वितरण की वह कोई सुन्दर व्यवस्था कर सके जिससे वे भर-पेट भोजन करें, हवादार मकानों में रहें, नीति और धर्म से जीवन को अनुप्राणित कर उसके यथार्थ उपयोग द्वारा आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। आज तो उसने केवल मानवात्मा पर पूँजी का प्रभुत्व स्थापित कर रखा है। आत्मा की आँखों पर जड़ता की पट्टी बाँध रखी है। कुछ लोग भले ही धनवान हो जायँ पर उनके धन का महल असख्य मानवों की नैतिक मृत्यु पर खड़ा है। वे अपने प्रभुत्व का दबदबा समाज पर बनाये रखें पर उनका प्रभुत्व समाज की लाश पर ही हो सकता है। आर्थिक विषमता की नीव पर खड़ा समाज का यह कंकाल महल शीघ्र ही धराशायी होकर 'सर्वोदय' की सुन्दर नीव पर नवनिर्मित जीवित महल ही अनन्त काल तक स्थिर रह सकता है। यही उसकी अपील है।

राजनीति के क्षेत्र मे भी इन्ही धनपतियों का नेतृत्व है। वह आज इन्हीं के हाथों की कठपुतली है। उसने भी पूँजीवादी जामा पहन कर मजदूरों के खून पर साम्राज्यवाद की नीव खड़ी की है। सुख, शान्ति और सभ्यता के नाम पर कुछ स्वार्थ-लोलुप भेड़ियों ने युद्ध की अग्नि मे इन्ही मजदूरों-किसानों की वलि चढ़ाई है। साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा के पाटों में पिस कर वह भी मृतप्राय हो गई है।

धर्म भी पुरोहितो के हाथ में पड़कर अपने अस्तित्व की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। जनता उसे अपना न समझ कर उसे पुरोहितों का धन्धा समझने की आदी हो गई है। इसीलिए जीवन आज धर्म से पृथक होकर पापाचरण की ओर अग्रसर हो रहा है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण बातों का विवेचन करने वाले उसके मुख्य ग्रंथ

है—अन-टु-दि लास्ट, 'टाइम ऐंड टाइड', 'दि क्राउन आव वाइल्ड ऑलिव' आदि। 'अनटु दि लास्ट'* तत्कालीन अर्थशास्त्र को थोथा घोषित करने वाला वह अमर ग्रथ है जो उसके प्राणो मे 'सर्वोदय' की प्रतिष्ठा करना चाहता है। इसी ग्रन्थ को अफ्रिका में पढकर महात्मा गांधी ने आज की जडवादी जनता का ध्यान 'सर्वोदय' की ओर आकर्षित किया है।

रस्किन ने जिस बात को महसूस किया उसे तीव्रता के साथ अमर शब्दों में गूँथ कर समाज के सम्मुख पेश किया है। वह वर्गों के ऊपर उठकर सत्य का व्याख्याता है। प्रथम प्रकृति, चित्र और स्थापत्य-कला ने उसे लुभाया पश्चात् 'आत्मा की कला' ने उसे मोहित किया। आदि में कला की समीक्षा लेकर उसने साहित्य के देवता की पूजा की और अन्त मे आत्मा की कला के सुन्दर फूलो को उस देवता के चरणों पर चढा दिया। प्रकृति के सौन्दर्य ने मानवात्मा के सौन्दर्य की ओर उसे खींचा और उस सौन्दर्य मे उसने सत्य का रङ्ग भर कर समाज और राष्ट्र को शिवत्व की उपासना मे तल्लीन किया। वह कहता है—"जीवन ही सच्चा धन है; वह जीवन जिसमे प्रेम, आनन्द और सद्भावना की सम्पूर्ण शक्तियाँ वर्तमान हैं। वही राष्ट्र सबसे अधिक धनवान है, जिसकी गोद मे अधिकाधिक उदार और सुखी मानवात्माएं पलती है। वही मानव सबसे अधिक मालदार है, जो अपने जीवन के सम्पूर्ण कर्तव्यो को पूरा कर, दूसरे प्राणियो के जीवन पर व्यक्तिगत रूपेण एवं स्वप्राप्त ऐश्वर्य-द्वारा अधिकाधिक प्रभाव डालता है।"

रस्किन ने जो कुछ कहा और कलमबन्द किया, उसे स्वयं भी कार्य रूप मे परिणत करने का प्रयत्न किया है। श्रम के महत्व की चर्चा के

* 'अनटु दि लास्ट' का महात्मा गाँधी द्वारा किया हिन्दी रूपान्तर 'सर्वोदय' नाम से सस्ता साहित्य मंडल ने प्रकाशित किया है।

साथ २ उसने अपने हाथों से सडक कूटी और नालियाँ साफ़ की। पूँजी की निन्दा की और अपने धन को सेंट जार्ज के ग्राम मे मज़दूरो के लिए स्वच्छ हवादार सस्ते मकान, सस्ती दुकाने आदि बनाने मे व्यय किया। फिर भी वह सैद्धान्तिक व्याख्याता ही अधिक है—गांधी-सी तीव्र कर्मण्यता उसमे नही है। स्वर्गीय महादेव देसाई के शब्दो में यही उसके जीवन की ट्रेजेडी है। वह तो प्रतिभा की ऐसी वेगवती लहर है जिसने दुनिया के दिल और दिमाग़ को झकझोर कर उसे कल्याण-मार्ग पर आरूढ होने का सन्देश दिया है। उसका मुख्य कार्य तो अपने विचारो-द्वारा नैतिक, सामाजिक, व्यापारिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्रान्ति कर जनता को विजय के उस पथ पर ले जाना है जहाँ मानवता पतनोन्मुख होने की अपेक्षा कान्तिमान होगी। जडवादियो ने उसे पागल कहा पर वह 'पागल' पाश्चात्य दुनिया को आत्मा की अमर व्याख्या दे गया है। वह हर इन्सान से यह आशा करता है कि वह अपने जीवन में न्याय का दामन पकड कर चले। वह कहता है—प्रकृति का नियम तो यह है कि सर्वप्रथम न्यायोचित कर्म को समझो। न्यायोचित कर्मानुकूल व्यवहार करने पर ही सच्चे और सरल कर्म को जाना जा सकता है। ईश्वराज्ञा भी यही है—'Do justice & judgement' (न्याय और विवेक करो) यही सारे धर्मों का सार है।" अन्य स्थान पर कर्म में सत्य का पालन करने का उपदेश देते हुए वह कहता है—"याद रखो, बेईमानी का प्रत्येक व्यवहार डंडी मारने से कम नहीं है।" इस प्रकार उसने आडम्बर पर सादगी थोपने की सलाह दी; मिथ्यात्व पर सत्य को आसीन किया। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उसने इन सीधे-सच्चे सिद्धान्तों को अपनाने का प्रयत्न किया है। उसने पवित्रता और नैतिकता पर बहुत ज़ोर दिया है। उसकी दृष्टि में वही समाज सदा सुखी रह सकता है जिसने नैतिक

गुणों को अपने जीवन मे आत्मसात् किया है। व्यक्ति की नीव पर समाज का भवन खडा है और यदि व्यक्ति ही पतित है तो वह किस प्रकार उन्नत रह सकता है। उसका मत है—"मानव स्वभाव निम्न व पतित होने की अपेक्षा उच्च व दिव्य है। ... मानवो के सम्पूर्ण पापों को मैं उनके स्वभाव की अपेक्षा उनकी बीमारी समझता हूँ। दूसरे शब्दों में पाप मनुष्य की नादानी से उत्पन्न वे हरकतें हैं जिन्हें दूर किया जा सकता है।" गाँधी जी भी आज हमारे जीवन की नींव नैतिकता पर ही डाल रहे है और एक शब्द में यदि हम कहें कि रस्किन गांधी-वादी प्रवृत्तियों का ही पूर्व व्याख्याता है तो इसमें अत्युक्ति न होगी। रस्किन ने कहा और गांधी ने कार्य-द्वारा उसी सन्देश को दुनिया मे फैलाया। सन् १९०० में वह दिव्य झलक सदा के लिए अन्तर्धान हो गई पर उसके अमर शब्दो मे आज भी हम उसके दर्शन करते हैं।

× × ×

प्रस्तुत पुस्तक रस्किन के 'दि क्राउन ऑव् वाइल्ड ओलिव' का हिंदी रूपान्तर है। रस्किन ने स्वयं इसकी विस्तृत भूमिका लिखी है जिसे पढकर पाठक इस पुस्तक के मर्म को समझ जायेंगे। यह तीन भाषणों का संग्रह है—कर्म, व्यापार और युद्ध। ये तीनो मानव-जीवन के अभिन्न अङ्ग है।

प्रथम भाषण में मशीन युग से उत्पन्न बुराइयो का वर्णन है। मानव जीवन पर पूँजी के घातक प्रभाव का चित्रण है। पूँजीपतियो के अत्याचारो का प्रदर्शन है। कर्म की महत्ता को समझाने का प्रयत्न है। उचित पारिश्रमिक-वितरण की आवश्यकता और उपायो का कथन है। "धन की जायज बुनियाद का आधार यह है कि हर मजदूर को उसके श्रम का यथार्थ मूल्य मिले और यदि आज वह उसे व्यय न करे

तो कल व्यय करने के लिए उसे संचित करने दिया जाय।" धन की लालसा ही आज पूँजीपतियों का प्रधान लक्ष्य हो गया है और इसी कारण जीवन में कटुता और अन्याय बढ गये है। "जब धन किसी भी मानव अथवा राष्ट्र के जीवन का प्रधान लक्ष्य होता है तब उसकी प्राप्ति और व्यय दोनों ही अन्यायाश्रित होते है, पर यदि वह प्रधान लक्ष्य न हो तो वह एवं अन्य वस्तुएँ सुलभ हो कर उनका ठीक-ठीक व्यय होता है।" उसकी राय मे "धन का उपार्जनकर्त्ता ही उसका सर्वोत्तम व्ययकर्त्ता है।" अपने धन का स्वयं उपभोग न करने पर उसके लिए दो ही मार्ग खुले हुए है—(१) संचय करना अथवा (२) सूद पर उधार देना। उधार देना ही पाप करना है। कर्जदार विशेपतः अपव्ययी होते है। "कर्ज़ दी गई पूँजी ही सारे अनर्थों की जड और अन्यायमूलक युद्धों की जननी है।"

कर्म की महत्ता प्रदर्शित करते हुए एक स्थल पर उसने कहा है— "प्रत्येक कर्म कुत्ते की तरह उतावली और बेढंगे तरीके से करने की अपेक्षा सुव्यवस्थित, सुचारु एवं मानवीय—जायज़—ढङ्ग पर सम्पादित होना चाहिए।" उसने स्वामी और सेवक को परस्पर न्यायोचित व्यवहार करने की सलाह दी है। उसकी दृष्टि में 'न्याय पर चलना' ही सारे धर्मों का सार है। पर आज तो हमने 'न्याय' की हत्या 'स्वार्थ' की तलवार से कर दी है। स्वलाभ की सूली पर दीन-हीन मजदूरों को चढाकर उनके भाग्य की दुहाई दी है।

उसने विवेकपूर्ण कर्म के तीन गुण बताये हैं—ईमानदारी, उपयोगिता और आनन्द। इसी 'कर्म' के रहस्य को जानने के लिए हमें 'शिशु की जिज्ञासा वृत्ति' धारण कर कर्मपथारूढ होना चाहिए। शिशु के चरित्र से उसके मुख्य गुण—नम्रता, आज्ञा-पालन, प्रेम और

प्रसन्नता को ग्रहण कर ही 'परमात्मा के राज्य' को हम पा सकते है। कोरे शाब्दिक जमाखर्च और प्रार्थना का ढोंग रचकर हम 'रामराज्य' की स्थापना नही कर सकते। अन्त मे वह कहता है—"यदि आगे बढना मौत के मुँह में जाना है तो पीछे लौट कर 'पालने' को अपनाओ। यही मेरा सन्देश है।"

दूसरे भाषण के अन्तर्गत हमे स्थापत्य-कला के निर्माण एवं उसके विकास पर सुन्दर विवेचन मिलेगा। उसका कथन है—"सम्पूर्ण भव्य स्थापत्य-कला राष्ट्रीय जीवन और चरित्र की द्योतक है। सौन्दर्य-प्रेम एवं राष्ट्रीय रुचि की चिरन्तन चेतनता ही उसके निर्माण का आधार है।" समाज के कल्याण को दृष्टि में रखकर ही कला का निर्माण होना चाहिए। दूसरे शब्दो में कला के निर्माण में 'सुरुचि' को छोडकर, जो 'एक पूर्ण नैतिक गुण है' हम यदि आगे बढेगे तो यह सौन्दर्य—पूजा हमारे लिए घातक सिद्ध हुए बिना नही रह सकती। समाज के कल्याण के लिए कला, जीवन और धर्म पृथक् नही किये जा सकते। ये तीनो मिलकर ही उसे उन्नत बनाते है। वह दृढतापूर्वक प्रमाणित करता है कि "प्रत्येक राष्ट्र के गुणावगुण सदा उसकी कला में अङ्कित रहते है।" उसके लिए "प्रत्येक राष्ट्रीय महान् स्थापत्य-कला, महान् राष्ट्र-धर्म का परिणाम एवं उसकी व्याख्या है।" एक स्थल पर वह कहता है—"उसे आप बिखरी हुई कभी नही पा सकते। चाहे तो वह आपको अविच्छिन्न मिलेगी अथवा बिल्कुल अस्तित्वहीन। न तो वह पुरोहितो के गिरोह का एकाधिकार है, न धर्मान्धता की व्याख्या है और न पूर्व-कालीन पुरोहिताधिपत्य का सांकेतिक लेखा ही है। वह तो दृढ और सम-भावना-प्रेरित जनता की जीवित भाषा है—परम पिता परमात्मा के अटल नियमो में सार्वभौम श्रद्धा का सौन्दर्य है।"

स्थापत्य कला सदा धर्म के साथ-साथ चली है—इसी के स्पष्टीकरण के लिए उसने आज तक प्रचलित युरोप के तीन धर्मों का वर्णन कर स्थापत्य-कला के तीन स्कूलो की व्याख्या की है। वह कहता है—"ये तीनो प्रकार की उपासनाएँ भव्य प्रार्थना-मन्दिरों मे प्रसूत हुई है। यूनानियो ने ज्ञानोपासना की और पारथेनन—सरस्वती मन्दिर—का निर्माण हुआ, मध्यकालीन लोगों ने सान्त्वनोपासना की और मुक्ति-देवी-प्रतिष्ठित कुमारी मन्दिरो का निर्माण किया एवं जागृतिकालीन जन-समाज ने कामान्ध सौन्दर्योपासना की और वर्सेविज एवं वेटिकन के महलो का निर्माण किया।" फिर 'लक्ष्मी के पूजक' वर्तमान समाज को लक्ष्य कर वह कहता है—"हमारे सारे विशाल भवन सदा उसकी ही कदमबोसी करते है। एक अर्सा हो गया कि आपने किसी महान् गिरजे की नीव डाली हो। यदि आज मै एक्रोपोलिस समझ कर आपके पहाडी स्थलों मे से किसी एक की चोटी पर गिरजा बनाने की सलाह दूं, तो आप मुझ पर हँसे बिना नही रह सकते। पर ज़रा ग़ौर से देखो—आपके रेल-मार्ग के ये उन्नत स्थल मानो एक्रोपोलिस का ही एक लम्बा ढेर है; रेलमार्ग के ये स्टेशन पारथेनन से भी ऊँचे और असंख्य हैं; आपकी ये विशाल चिमनियाँ गिरजे की मीनारो से भी लम्बी और अनगिनती है, और आपके बन्दरगाहो के ये घाट—ये गोदाम—ये व्यापार-गृह, सब के सब, महादेवी लक्ष्मी की ही उपासना में तल्लीन हैं। आपकी स्थापत्य-कला के निर्माण में उसका सदा हाथ रहा है और जबतक आप उसकी चरण-चर्चा करते रहेंगे तबतक वह आपका पल्ला कभी न छोड़ेगी।"

ब्रैडफोर्ड के व्यापारियों ने उसे अपने नये निर्मित किये जाने वाले व्यापार-गृह के सम्बन्ध में सलाह लेने के लिए निमन्त्रित किया था पर

वह प्रारम्भ में ही कहता है कि "आपके इस व्यापार-गृह को मैं बड़ी हेय दृष्टि से देखता हूँ," क्योंकि वह 'लक्ष्मी देवी' को समर्पित किया जाने वाला था जिसके लिए उसने अन्त में कहा है—"इसी स्वर्ग-बहिष्कृत देवी की पूजा को अपना प्रधान लक्ष्य बनाओ और समझो कि सारी कला, विज्ञान और आनंद दुनिया के परदे पर से सदा के लिए उठ गये।"

तीसरे भाषण में हमें कला और युद्ध का सम्बन्ध, युद्ध का वास्तविक अर्थ, वर्तमान युद्ध के कारण और सैनिकों के कर्तव्यों की व्याख्या मिलती है। उसकी दृष्टि में शान्तिकाल की सम्पूर्ण उच्च और महती कलाएँ युद्ध पर ही आश्रित है। बहादुर कौम वाले देश को छोड़ कर दुनिया के परदे पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ किसी भी महान् कला का विकास हुआ है।" इसी कथन की पुष्टि के लिए वह भिन्न २ युगों की इतिहास—प्रसिद्ध जातियों की दशा का तुलनात्मक अध्ययन कर दुनिया की सर्वश्रेष्ठ कला के क्रमिक विकास की आधार-भूत मोटी-मोटी बातों का वर्णन करता है। उसके मत से "युद्ध ही सम्पूर्ण महान् कलाओं का आधार है" का अर्थ यह है कि "वह मनुष्यों के सर्वोच्च सद्‌गुणों और भावनाओं का आधार है" क्योंकि "प्रत्येक राष्ट्र ने सत्य-पालन और विचार-दृढ़ता युद्ध में ही सीखी है।" पर वे युद्ध "स्वार्थी कौमों के अत्याचारपूर्ण हमलों और साम्राज्य-विस्तार-लोलुप तानाशाहों के युद्ध नहीं हैं। इन युद्धों ने तो केवल कब्रों को खड़ा किया है। निर्माण-कारी प्राण-सञ्चारक युद्ध तो वह है जिसमें मानव स्वभाव-जन्य अशान्ति और संघर्ष का निग्रह सर्व-सम्मति से सांघातिक पर सुन्दर खेल के रूपों में होता है, जिसमें सर्वव्यापक बुराइयों पर एकान्त विजय से शान्ति, प्रेम और लालसा का नियमन होता है; और जिसमें आत्मरक्षा

की स्वाभाविक भावनाओ की शुद्धि संस्थाओ की महत्ता एवं तत्रस्थित परिवारो की पवित्रता पर निर्भर होती है। इसी युद्ध के लिए प्राणी-मात्र का जन्म हुआ है और हँसते-हँसते वह इसी मे अपना जीवन-दान कर सकता है। इसी युद्ध से गत सम्पूर्ण युगो मे मानवता के सारे सद्गुणो और सद्भावनाओं का आविर्भाव हुआ है।"

आगे चल कर वह कहता है कि युद्ध विशेषतः आनन्द, सम्राज्य-विस्तार एवं आत्मरक्षा के लिए किये जाते है। फिर इन तीनों का आलोचनात्मक दृष्टि से उसने विस्तृत विवेचन किया है। युद्ध से विहार करने वालों से उसकी प्रार्थना है कि "वे कृपा कर हरे हरे खेतों की शतरंज-पट्टी पर इन अभागे कृषक-मोहरों से न खेले।" साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध करने वालो को लक्ष्य कर वह कहता है कि "आप अपने नौकरों के 'कलेजे के टुकडो' की बलि चढाकर उसकी आग को प्रज्वलित न रखो। सच्ची शक्ति साम्राज्य-विस्तार पर निर्भर नही है। संसार के मानचित्र पर दृष्टि डालो। उसमें ग्रेट ब्रिटेन के ढेले को दक्षिण अमेरिका के ढेर के पास रखकर सोचो कि क्या किसी मानव जाति के लिए यह शोभा की बात है कि वह अधिक जमीन पर खडी है। सच्ची शक्ति का स्रोत तो स्वयं मनुष्य में है; उनके खडे रहने के कमरे की अपेक्षा उनके ऐक्य और उनके सद्गुणों में है।" आत्मरक्षा के लिए किया गया युद्ध "जन्मभूमि की रक्षा और कानून के शांतिपूर्वक पालन के हेतु किया जाता है।"

सैनिकों के कर्तव्यों को सुझाते हुए वह कहता है— "कोरा मूक आज्ञापालन या शौर्य-प्रदर्शन ही सैनिकत्व का आदर्श नहीं है।... एक सैनिक की अपने देश के लिए सच्ची प्रतिज्ञा तो यह है कि वह उसके घरेलू गुणों, सच्चे कानूनों, और संकटग्रस्त सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि चढाये।"

किसी भी राष्ट्र के लिए सैनिक ही उसकी 'भावी आशा' है और उसके वर्तमान जीवन पर ही उसके सम्पूर्ण भावी विकास की योग्यता निर्भर है। उसे अपनी जवानी मे विचारहीन' या 'लापर्वाह' न होकर 'श्रम'–द्वारा, सम्मानपूर्वक अपने देश के प्रति अपना कर्त्तव्यपालन करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से पाठक रस्किन के इस ग्रन्थ के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो को समझ जायँगे। ससार के साहित्यिको और विचारको मे रस्किन का एक स्थान है। युगो पहले भारतीय ऋषियो ने हमारे जीवन का सार्वभौम सिद्धान्तों के आधार पर जो चित्रण किया है उसी की झाँकी इस विचारक ने हमें दी है। वर्तमान संसार की श्रेष्ठतम विभूति महात्मा गाँधी ने भी इग्लैड के रस्किन और रशिया के टॉल्स्टाय को अपने प्रेरणा-विन्दु मे केन्द्रित कर ससार मे भारतीय जीवनादर्श की उपयोगिता सिद्ध करदी है। हमने टॉलस्टाय की आत्मा को हिन्दी मे उतारने का प्रयत्न तो किया है पर रस्किन से हमारी राष्ट्र-भाषा अभी तक अलंकृत नही हुई है। यह रूपान्तर इसी दिशा में एक प्रयास है। जो आग्ल-भाषा रस्किन को पाकर अमर हो गई है उसे हिन्दी-रूप देना मेरे लिए सचमुच एक कठिन समस्या थी। विचारो की अभिव्यक्ति की रस्किन की अपनी एक स्वतन्त्र शैली है। यथासाध्य इस रूपान्तर में यह प्रयत्न किया गया है कि पाठक रस्किन के विचारो के साथ २ उसकी उस शैली के व्यक्तित्व का भी आभास पा सकें जिससे उनमे उसके मूलग्रन्थो को पढ़ने की अभिरुचि पैदा हो और वे उसके उन अमर ग्रन्थो को हिन्दी में दे सकें। रस्किन ने जो कुछ लिखा है उसमे

उसकी आत्मा गूँज उठी है। यदि उस गूँज की थोड़ी-बहुत भी प्रतिध्वनि पाठकों को इन पन्नों में मिलेगी तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

महू
अनन्त चतुर्दशी सं० २००० } —रामनारायण विजयवर्गीय

भूमिका

[रास्किन]

बीस वर्ष पूर्व वेडल के उद्गम के निकटवर्त्ती, सर और सरिताओं से सज्जित वेडिंग्टन और कार्लशटन के ग्रामो एवं एडिंग्टन के कुजों से सुशोभित प्रदेश को छोड़ कर दक्षिण इंग्लैंड की तराई के दृश्योंवाला अधिक मनोमोहक एवं अपने मानवीय जीवन और चरित्र के प्रकाशन-द्वारा संसार मे अधिक करुण कोई दूसरा स्थल न था। वर्षा के देवता के गौरव-गीतों को नित्य स्व-अधरों से कोई अन्य जलस्रोत उनसे अधिक स्पष्ट या दिव्य-रूप मे न गाते थे। वसन्तागमन पर कोई अन्य प्रदेश उनसे अधिक हृदय-ग्राही रूप मे कभी न खिले थे। शान्त आनन्दोल्लास-गौरवान्वित-लज्जावृत्त पर पूर्ण-विकसित उनसे अधिक दूसरे आनन्दगेहों ने किसी भी यात्री के हृदय को कभी नही हिलाया था। यह रम्य-स्थल आज भी और कुछ समय पूर्व तक अपने विशिष्ट बाह्य चिह्नों मे अपूर्व था। पर मै यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मैने उसके आतरिक करुण अर्थ मे कभी भी ऐसा मुर्दापन नही देखा—मलेरियाप्रधान पीसा की तराइयों अथवा टारसेल टापू के आसपास के रेतीले प्रदेशों मे भी नही—जैसा कि उस आग्ल दृश्यावली के कोमल माधुर्य मे असावधान, प्रमादपूर्ण एवं पाशविक उपेक्षा के मूर्त चिह्नों के रूप मे वह देखा गया। जब मै उद्धत मानव रेवड़ों द्वारा किये गये उन निर्मल जलस्रोतो के निर्दय गन्दलेपन को देखता हूँ तो मुझे उनके पाप और अधर्म—परमात्मा-निन्दा और नास्तिक विचार भी फीके लगते है। अपनी न्याय-बुद्धि की सारी शक्ति लगाकर देखने पर भी इससे भयानक मुझे और कुछ नहीं जँचता। उस मनोरम स्थल पर—

जहाँ स्वच्छ जल का निर्मल प्रवाह, तरंगित एवं पवित्र, प्रकाश-पुञ्ज की तरह कार्शलटन के जलाशय में मिलता है,—जहाँ बेतों के झुरमुट मे से रेतीले मार्ग द्वारा उसकी समुज्ज्वल धारा का मार्ग प्रशस्त होगया है और जहाँ प्रथम प्रवाहित धाराओं की प्रवाहध्वनि गुंजित है—पतित मानव अपने घरों का कूड़ा कर्कट,—धूल, गारा, जीर्ण धातु के टुकड़े और फटे-पुराने चीथड़े—फेंकता है! गाड़ी ढोकर फेंकने मे प्रमादी, गढा खोदकर गाड़ने की सुरुचि से रहित ये नारकीय नरपुङ्गव उस गन्दगी को उस शुद्ध निर्मल धारा मे बहाते हैं। उस विषाक्त जल को वे वहाँ सर्वत्र फैलने के लिए छोड़ देते हैं जहाँ परमात्मा उसे आनन्द और स्वास्थ्य के लिए बहाता है। उस स्थल से कुछ दूर मकानों के पीछे एक दूसरी जलधारा बहती है। उससे निकली हुई एक नहर—जो अब रुक गई है और जिसे सुसंस्कृत पूर्वजों ने कभी निकाला था—जिसके पत्थर यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे पड़े हैं,—जो जमाने भर के कूड़े-कर्कट, धूल और राख के ढेरों से ढकी हुई है,—जिसके वक्षस्थल पर कभी २ उसके जल से पवित्रीभूत खंडहर मकानों के ईंट-पत्थर पड़े हुए हैं—अपने मार्ग को अवरुद्ध करनेवाले इन अपवित्र ढेरों को चीर कर आगे बढ़ने में असमर्थ है और उसका अवरुद्ध जल उन ढेरों के नीचे चक्र-सा बनकर व सूखकर उसे सदा के लिए आँखों से ओझल बना देता है। यदि चाहें तो आधे दर्जन आदमी मिलकर एक दिन के परिश्रम से उस गन्दे ढेर को दूर कर सकते हैं, उसके तीर पर सुन्दर लता-कुंजों को लगा सकते हैं, ग्रीष्म की उत्तप्त वायु को सुगन्धित व आनन्दवर्धिनी और हर उज्ज्वल लहर को जीवन-स्पन्दिनी एवं स्वास्थ्य-प्रदायिनी बना सकते हैं। पर न कोई एक दिन भी मेहनत करता है, न कभी करेगा और न कभी उन सुरम्य जलस्थलों की संगति में मानव-हृदय सुख पा सकेगा।

अन्तिम बार जब मैंने उन्हें छोड़ा था, तब मैं क्रॉयडन की गलियों मे होता हुआ पुराने गिरजे से अस्पताल चुपचाप चला जा रहा था। ज्योंही मैं हॉयस्ट्रीट के चौराहे पर पहुँचा कि मुझे नवनिर्मित शराब की दुकान का विशाल भवन दिखलाई दिया। उसका सामने का हिस्सा इस बुद्धिमानी से बनाया गया था कि खिड़कियों से सड़क केवल दो फुट पर थी जिस पर न कोई आ सकता था और न जा सकता था—जो सर्वथा निरुपयोगी थी। इस प्रकार दो फुट चौड़ी पटरी बनाकर और शराबखाने की शोभा बढ़ाने के लिए उसे फुटपाथ से पृथक कर लम्बे २ लौह खम्बो-द्वारा उसकी ऊँचाई छः फुट कर दी गई थी। उस व्यर्थ पड़ी जमीन को लोहे से पाट कर दीवार और सड़क के बीच एक सुव्यवस्थित एव सुरक्षित घेरा बनाकर सड़े-गले कूड़े-कर्कट का महा गंदा कूड़ाघर बना दिया गया था। जरा सोचो कि वे ही लौह-खम्ब जिनसे व्यर्थ की पडी जमीन ढापी जाकर कूडाघर बनाया गया है, कार्शलटन के जलाशय को तीन बार साफ करने मे समर्थ हो सकते थे। ये लौह-खम्ब, ऐसे कार्य के प्रतीक हैं जो अंशतः खदान मे प्राणनाशक और गला घोंटने वाला है, भट्टी पर भयकर और थकान पैदा करने वाला है, अनगढ कारीगरों-द्वारा निर्मित भद्दे रूपों के कारण अनुपादेय और मूर्खताप्रदर्शक है और पूर्णतः—आदि से अंत तक—हर पहलू से—विषाक्त, घातक, और दुःखदायी है। अन्य कार्यो की अपेक्षा इस कार्य मे व्यर्थ क्यो समय बर्बाद किया गया? हमारे भाइयों का पसीना पृथ्वी को पवित्र करने के बजाय उसे गन्दा करने मे क्यों बहाया गया?—और—और—स्वास्थ्यप्रद ताजी हवा और शुद्ध जल की अपेक्षा सर्वथा अनुपयोगी (उस स्थल पर) धातु के टुकड़ों के, जो न खाये जा सकते हैं और न साँस में समा सकते हैं, निर्माण मे क्यों उनकी शक्ति झोंकी गई?

इसका सिर्फ एक ही और अन्तिम (वर्तमान समय में) कारण यह है कि एक मे तो पूँजीपति का स्वार्थ सधता है पर दूसरे में नहीं। मजदूरों की सहायतार्थ कुछ रकम होने पर, यदि मै उसे सिर्फ अपनी जमीन को ठीक रखने के लिए उन्हें बाँट देता हूँ, तो उससे सदा के लिए हाथ धो बैठता हूँ; इसके विपरीत यदि उसी रकम को मेरी ज़मीन से लोहा निकालने, उसे ढालने व बेचने के लिए उन्हें देता हूँ तो मै जमीन का किराया लेकर, लोहे की तैयारी और बिक्री दोनों पर मुनाफा पाकर तीन-तीन पृथक तरीकों से अपनी पूँजी का विस्तार करता हूँ। वर्तमान मे पूँजी विस्तार का तरीका उसे इसी प्रकार के कामों में फँसाना है जिसमे जनता उन अनुपयोगी पदार्थों को खरीदने के लिए बाध्य की जाती है और जिनके उत्पादन और बिक्री से पूँजीपति अपना मुनाफा कमाता है। वह जनता सदा इसी भुलावे मे रहती है कि इस प्रकार अर्पित पूँजी सच्ची राष्ट्रीय सम्पत्ति है पर वास्तव में वह छोटी छोटी जेबों से चुराई जाकर बड़ी-बड़ी जेबों को भरती है।

इस प्रकार क्रॉयडन के शराबखाने का मालिक शराबियों पर शान जमाने के लिए उन लौह खम्भों को खरीदता है। उसकी देखा-देखी सामने की दुकान का कलाल भी दूसरे लौह-खम्भ को खरीदता है। दोनों के दोनों मौजी ग्राहकों के लिए अपने सापेक्ष आकर्षण मे एक ही धरातल पर वर्तमान है; पर लौह खम्भों पर व्यय की गई पूँजी तो सदा के लिए उनकी जेबों से छीन ली गई है। इस नुकसान को चाहे तो वे स्वयं भुगतेंगे अन्यथा शराब के दाम बढ़ाकर या उसमें मिलावट कर उसकी पूर्ति ग्राहकों की जेबों से करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितना मुनाफा पूँजीपति के पेट मे गया है उस हद तक हमारे वे कलाल या उनके ग्राहक अवश्य ही निर्धन हो जायँगे। साथ ही उस

कार्य का मूल्य भी राष्ट्र के लिए नष्ट हो गया है क्योंकि उक्त स्थान पर और उक्त रूप मे उन लौह-खम्बो का कोई मूल्य नहीं है। पूँजीपतियों-द्वारा गरीबों के धन के इसी प्रकार के अपहरण को समझाने के लिए मूल पुस्तक मे पूँजी की वर्तमान विस्तार-शक्ति की तुलना तलवार और भाले से की गई है। दोनों मे केवल इतना ही फर्क है कि पहले जमाने में बलप्रयोग-द्वारा लूट-खसोट होती थी और आज वही धोखेबाजी से सम्पन्न होती है। पूर्वकालीन घुड़सवार डाकू रात भर अपनी मेहमानी के लिए सीधा शराबखाने मे घुसकर उसके मालिक को मजबूर करता था पर वर्तमान डाकू तो अपने भाले की 'नाल' बनाकर जबरदस्ती अपने अतिथेय (मेजबान) के गले बाँधता है। एक सीधा डाकू होकर और दूसरा बेईमान बिसाती बनकर आता है; पर जर्जर मानव की जेबों पर दोनों का एकही असर पड़ता है। यह ठीक है कि बहुत से लाभदायक उद्योग-धंधे कई व्यर्थ के उद्योग-धंधों में मिल कर उन्हे दाप देते हैं, इस प्रकार की हलचल से उत्पन्न कार्य-शक्ति से कुछ खास फायदे भी हैं। क्रियाशून्य होने की अपेक्षा साठ-सत्तर हजार रुपये फूँक एक सुन्दर बन्दूक बनाकर उसे टूक-टूक कर देना कहीं अच्छा है। पर उसे 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' के नाम से मत पुकारो।

अधिकाश लोगो की यह गलत धारणा है कि पूँजीपतियों के पास संचित निर्धन का धन कोई घातक परिणाम नहीं पैदा करता क्योंकि किसी के पास भी रहकर उसका व्यय तो अवश्यम्भावी है और वह पुनः निर्धनों के पास आ जायगा। इस भूल का भंडाफोड कई बार हो चुका है। यदि इस तर्क को हम ठीक मान लें तो फिर लूट खसोट व अन्य प्रकार की डकैतियों के लिए भी यही बहाना बनाया जा सकता है। (व्यावहारिक न होने पर भी) राष्ट्र के लिए यह भी उतनी ही हितकारक

बात है कि वह डाकू लूट खसोट के माल का व्यय कर दे जैसा कि उसका संचयकर्त्ता भी उसे अवश्य ही करता। पर चोरी के लिए यह बहाना ठीक नहीं है। मेरे मकान के निकटस्थ सड़क पर चलनेवाले लोगों से यदि मै उसपर चलने का कर वसूल करने के लिए एक चौकी खड़ी कर दूँ और हरेक से एक-एक रुपया छीनने लगूँ तो जनता तत्काल मेरी उस चौकी को उखाड़ फेंकेगी और मेरी इस दलील पर जरा भी कान न देगी कि "अन्ततः उस धन का मेरे द्वारा व्यय होना उतना ही लाभप्रद है जितना कि उनके द्वारा व्यय करने पर होता।" पर चौकी खड़ी कर लूटने की अपेक्षा यदि मै उन्हें अपने यहाँ बुलाकर पत्थर, लोह-लक्कड़ अथवा अन्य अनुपयोगी पदार्थों को खरीदने के लिए विवश करूँ, तो मै उन्हे उसी हद तक लूटूँगा, फिर भी जनता तो मेरे इस कार्य से .खुश होकर मुझे अपना हितेच्छु और व्यापार की उन्नति करनेवाला समझेगी। इंग्लैंड के गरीबों का—दुनिया के गरीबों का—यह मुख्य सवाल सम्पत्तिशास्त्र की किसी भी पुस्तक में नहीं मिलेगा। स्वय मजदूर पूँजी के उपयोग को अपने तात्कालिक लाभों के परिणाम से ही तौलते हैं। श्रम के ध्येय और भिन्न-भिन्न रूप से उसके उपयोग में कितनी घातक शक्ति काम कर रही है, इसपर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया है। यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं है कि अन्ततः मजदूर को किसी वस्तु के निर्माण के एवज में क्या मिलता है जितनी कि स्वयं वह वस्तु है जिसके निर्माण के लिए वह मजदूर किया जाता है। उसके श्रम का उपयोग यदि खाद्य-सामग्री, शुद्ध वायु एवं स्वच्छ जल को उत्पन्न करने में लिया जाता है तो कोई हर्ज नहीं कि उसकी मजदूरी कम है। निदान उन सबका वह उपयोग तो कर सकेगा। पर यदि उसे खाद्य-पदार्थों और शुद्ध वायु के नाश के लिए, अथवा उनके बजाय लोहे के खम्भों को बनाने के लिए मजदूरी दी जाती

है, तब तो न वे पदार्थ ही होंगे और न वह इतनी जानकारी करने पर भी उनसे लाभ उठा सकेगा।

मेरी बातों की जाँच करने व उनको मानने के पूर्व दूसरे अनुसधान-कर्ताओं की तरह मुझे भी कई वर्षों तक जनता की हँसी सुननी पड़ी है। मै भी जनता के समझने तक ठहरने मे संतोष पाता हूँ। फिर भी दुःखद आश्चर्य के साथ मुझे कहना पड़ता है कि सोदाहरण कई बार दोहराकर भी मै इस सीधे-सच्चे सिद्धान्त को—लोगों के धन की तरह राष्ट्र की सम्पत्ति भी शून्यों की अपेक्षा ठोस वस्तुओं मे है, और सम्पूर्ण कार्य एव व्यापार का सद्परिणाम हमारी निर्मित अथवा तत्प्राप्त वस्तु के अन्तिम मूल्य पर निर्भर है अपने पाठकों के दिमाग में नहीं बिठा सका हूँ। यह पूर्ण व्यावहारिक सत्य है। पर अंग्रेज जनता तो अर्थशास्त्रियों के वर्तमान स्कूल के इन विचारो से कि "व्यापार सदा अच्छा है, चाहे उससे फायदा हो अथवा वह शैतानियत को शह देता हो; वस्तु का क्रय-विक्रय सदा लाभप्रद है चाहे उसका यथार्थ मूल्य (उपयोग) कुछ भी हो" इतनी प्रभावित है कि वर्तमान श्रम के वास्तविक परिणाम की जाँच के विषय मे नई बातों को सुनने के लिए वह तैयार नहीं है। इस पुस्तक के तीनों भाषण भिन्न २ अवसरो और स्थानो पर दिये होने पर भी इनमे परस्पर काफी तारतम्य है। पर इनके शीर्षक रखते समय जनता की उपर्युक्त भावना मेरे मार्ग में सबसे अधिक बाधक सिद्ध हुई है। किसी भी रूप मे यदि उनमे प्रतिपादित विषयों के मूल और मेरी दृष्टि मे मुख्यतम सिद्धान्त को उनके गले उतारने से मुझे रोका नही जाता (आंग्ल जनता के सम्मुख भाषण देने में यह दूसरी बड़ी कठिनाई है) तो उनमें आप अधिक तारतम्य पाते। मेरे श्रोताओं से—श्रमिकों, व्यापारियों और सैनिकों से—विशेषतः मैं यही पूछना चाहता

था कि उनके 'कर्म' का अन्तिम तात्पर्य क्या है और उन्हीं से यह जानना चाहता था कि अपने उत्पादन से, अपने व्यापार से और अपनी हत्याओं से वे किस फल की आशा लगाये बैठे हैं ? इसके पूर्व कि मेरा बोलना कुछ कारगर और प्रभावशाली हो, सर्वप्रथम इसी बात का निर्णय आवश्यक है। "हे श्रमिको, हे व्यापारियो—हे सैनिको,—साफ़-साफ़ कहो तुम क्या चाहते हो। फिर तुम्हारी सहायतार्थ यदि मैं कुछ कह सका, तो अवश्य कहूँगा; यदि नहीं तो अपनी असमर्थता की ठीक २ सफाई दूँगा।" पर इस सवाल को किसी भी रूप में रखने के पूर्व उपर्युक्त कठिनाई का सामना अवश्य करना पड़ेगा। इस समय यही मेरी सबसे बड़ी कठिनाई है—यह कठिनाई मेरे श्रोतागण के परलोक में विश्वास या अविश्वास को जानना है। किसी भी साधारण व्यापारिक कम्पनी के लोगों के सम्मुख, उनका परलोक में विश्वास मानकर, यदि कुछ कहोगे और इस कल्पित विश्वास के आधार पर उनके वर्तमान व्यापार की कसौटी तैयार करोगे, तो वे तत्काल उत्तर देंगे—"आपका कथन सुन्दर है पर वह व्यावहारिक नहीं है।" इसके विपरीत यदि आप उन्हें स्पष्टतः परलोक में अविश्वासी घोषित करोगे, और उस अविश्वास से कुछ भी परिणाम निकालने का प्रयत्न करोगे, तो वे फौरन आपको दोषी ठहरा कर आप की धूल उड़ायेंगे। जो कुछ मुझे कहना है, उस पर जितना ही अधिक मैंने विचार किया है, मै इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि इस अकाट्य और अछूते विषय का उल्लेख किये बिना मैं नहीं रह सकता। किसी का यह विश्वास कि मशीनगनों से छोड़े गये गोले, ईंटों के मैदान की तरह, केवल कुछ रक्ताभ मिट्टी को पृथ्वी की छाती पर बिछा देंगे और दूसरे का यह कि उस 'मृत' ढेर के पृथक पृथक ईसाई-नामांकित भाग से अनिच्छापूर्वक मुक्त होकर, आत्मा की कोई

आश्चर्यकारी दशा, युद्धजनित साघातिक वायु और धुएँ में समा गई है, युद्ध के सिद्धान्तों को स्थिर करने में अवश्य अन्तर डालेंगे। इसी प्रकार किसी की यह धारणा कि प्रत्येक व्यापार केवल दृश्य पदार्थों तक ही सीमित है अथवा वह पदार्थ, वर्तमान में अदृश्य होकर भी अंततः यथार्थ, एवं अन्य शतो पर अन्यत्र क्रय-सुलभ है, व्यापार की अन्तिम सीमा निश्चित करने मे विरोध पैदा किये बिना नही रह सकती। किसी का विश्वासपूर्वक उनसे यह कहना कि "मित्रो, तुम्हें तो सिर्फ मरना है, शेष अपने आप ठीक हो जायगा" अथवा किसी की यह गुप्त शंका कि "यह उपदेश तदनुसार चलने वालों की अपेक्षा उसके देने वालों को अधिक हितकर है" ये बातें जीवन के भार से पीड़ित और उससे मुक्त होने के लिए इच्छुक प्राणियों के सम्मुख बोलते समय अवश्य फर्क डाले बिना नहीं रह सकतीं। अतः समझदार पाठक इन भाषणों मे सर्वत्र मुद्दे की बातों को समझाने मे एक प्रकार की झिझक और अधूरे तथ्यों की भरमार पायेगा। उपर्युक्त झिझक का एक मात्र कारण मेरे पाठकों के स्वभाव की अनिश्चितता ही है। यौवनोपरान्त लोगों पर अपनी बातों को बलात् थोपने की इच्छा से मैने कभी भी और न आजही किसी भी प्रकार के प्रचारात्मक ढंग पर बोलने का प्रयत्न किया है। किसी के भी सम्मुख बोलते समय मै उसके वर्तमान सिद्धान्तों को मानकर चलता हूँ और उनका पूर्ण खुलासा करने का प्रयत्न करता हूँ। आज की अधिकाश आग्ल-जनता का यह विश्वास है कि उसके पास एक ऐसी पुस्तक (बाइबिल) है जो सीधी परमात्मा के कठ से निकलकर उसके कर्त्तव्यों का बखान करती है। गत चालीस वर्षो मे मैने भी उसे अधिकाश लोगों की तरह, बड़े ध्यान से पढा है और मै गर्व से कह सकता हूँ कि उसको मानने वालों को उसके सिद्धान्तों की सत्यता बता सकता हूँ। मेरा सतत यही प्रयत्न रहा है कि वे उसको अधिका-

धिक माने; उनका विश्वास केवल अपने प्रियपदों तक सीमित न रहे और वे उसकी आत्मा को पहचाने। गडे-डोरे के समान उसे मानने की अपेक्षा एक सेनापति की कठोर आज्ञा की तरह, जिसका पालन वे सर्वस्व खोकर भी करते हैं, उसे माने। अपने श्रोताओं में इतने विश्वास को मानकर मैं सदा उत्साहित हुआ हूँ। इन्हीं से एकबार मैंने विश्वास-पूर्वक अंहकार के दोष और लोभ की निस्सारता पर बोलने की इच्छा की थी, उस "राजनीतिक अर्थशास्त्र" का समर्थन चाहा था जो मानव-जीवन को खान-पान से और शरीर को वस्त्रालंकारों से परे मानता है, और धर्मान्ध न होकर यह आकाङ्क्षा की थी कि वे मौखिक ही नहीं वरन् अपने सम्पूर्ण हृदय से अपने आपको दुनिया के इन जहरीले जड़वादियों से पृथक करलें।

आज यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारी साधारण जनता या उसका अधिकाश इस प्रकार के धर्मात्माओं से मिलकर बना है। इनमें उपर्युक्त किसी भी विश्वास को न मानने वाले बहुत से लोग मिलेंगे; बहुत से उस पर आश्रित अपीलों पर कान तक नहीं धरेंगे। इसीलिए मैंने स्वयं को ईसाई कहलाने वाले लोगों से उनके जीवन-सम्बन्धी एवं नास्तिकों से उनके मृत्यु-सम्बन्धी विश्वास की ठीक २ घोषणा और पूर्ति चाही थी। यह द्वन्द्व आवश्यक है। चाहे तो मनुष्य मरने के बाद और जीयेगा अथवा सदा के लिए नष्ट हो जायगा। कुछ भी हो, पर मनुष्य को बहादुरी से भाग्य का मुकाबला कर जीवन का सुचारु संचालन करना चाहिए। सदा अनिश्चित आशा और अदृश्य आशंका के जंजाल से मुक्ति ही उसके लिए श्रेयस्कर है। अमरता में हम सदा इसलिए विश्वास करते हैं कि मृत्यु की तैयारी से बचें। मृत्यु में विश्वास का कारण यह है कि तदुपरांत किसी दूसरे

झंझट मे न पड़े। पर विचारशील मानव तो इन दोनों सभाव्य घटनाओं मे से किसी एक को अवश्य झेलने के लिए कटिबद्ध रहेगा। अनन्त निद्रा के लिए उसकी हर वस्तु सुव्यवस्थित रहेगी या अमर जागरण के लिए वह सदा प्रस्तुत रहेगा।

यदि वह अनन्त निद्रा मे विश्वास रखकर अपनी हर वस्तु को सुव्यवस्थित रखता है, तो उसकी इस धारणा को हेय समझने का हमें कोई अधिकार नहीं है। इसी प्रकार जीवन मे दृढ विश्वास सचमुच मन की एक स्पृहणीय दशा है। मेरी दृष्टि में तो वह एक असाधारण घटना है। ऐसे बहुत ही कम ईसाई हमे मिलेंगे जो स्वर्ग की शोभा में विश्वास कर अपने मित्रों-द्वारा दरबार मे रहने के राज-निमंत्रण के बजाय यम का निमंत्रण पाने पर अधिक प्रसन्न होंगे, और न "जीवन से मुक्त होकर परमात्मा मे आत्मसात होने की भावना" के हमारे चर्च के उपदेश ने आजतक प्रचलित प्रत्येक मानव की मृत्यु पर शोक प्रकट करने की बेहूदी प्रथा ही में कोई सुधार किया है। इसके विपरीत कई सज्जन सचमुच मृत्यु मे उत्कट विश्वास रखते हैं। हमारे चर्च का यह विचार कि उपर्युक्त विश्वास सदाचार और कर्म के विरुद्ध है, उसके स्वय के पतन की अन्तिम निशानी है। किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए जीवन की क्षणभंगुरता का अन्तिम अर्थ यह नही है कि वह उन क्षणों को बर्बाद करे, और न कल मृत्यु की सम्भावना, शराबी के अतिरिक्त अन्य प्राणियों को यह प्रेरणा देती है कि वे आज शराब मे डूबे रहें। मृत्यु की क्रिया शून्यता का उपदेश प्रमादियों को अधिक प्रमादशील पर कर्मण्यों को अधिकाधिक कर्मण्य बनायेगा। इस विश्वास के बल पर कि उसके सम्पूर्ण पाप क्षण मे क्षम्य होंगे और उसकी सारी बुराइयाँ तत्काल दूर हो जायँगी, मानव जीवन, हर दशा मे, उच्चतर नहीं हो सकता।

इसी प्रकार "जैसा बोओगे वैसा काटोगे" अथवा क़हर के इस जीवित बीज (मानव) के अंधकार मे भटकने के बजाय उसमें लय हो जाने पर दूसरे काटेंगे—प्रतिफल के इस कठोरतर एवं कई विचारकों की दृष्टि मे सभाव्य सत्य के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले आनन्द की अपेक्षा पूर्व पाप-नाशक पश्चात्ताप की आह मानव जीवन को अधिक आत्मानन्द नहीं दे सकती जिसमें लीन होकर वह अपना दुःख-दर्द भूल जाता है।

पर उन लोगों से, जिन्हें उनके दृष्टि-दोष, आत्मकटुता अथवा अत्याशा-वादी मानवों के व्यवहार से उत्पन्न रोष ने बलात् इसी कटु सिद्धान्त को अपनाने के लिए बाध्य किया है, मेरी एक अपील है। यह अपील अति सुखी प्राणियों के सम्मुख की जाने वाली अपील से अधिक तर्क-सम्मत एव फलदायक है। मेरी इच्छा थी कि उनसे इस ढंग से बोलूँ कि न तो उन्हें कष्ट हो और न दूसरे ही उसे सुन सके। मैं यह कहना चाहता था कि हे मृत्युमुखी मानवो, जिन्हें शीघ्र ही सदा के लिए बहरे हो जाना है, ज़रा सुनो। तुम्हारे दायें-बायें स्थित उन दूसरों के लिए जो अनन्त जीवन की उस 'दशा' पर आँख गड़ाये बैठे है, जिसमें उनकी सारी भूलें नष्ट होंगी और सम्पूर्ण दोष क्षम्य होंगे; उनके लिए जिन्हें मरण के यौद्धिक धुँए से धूमिल होकर, केवल क्षणभर के लिए मृत्यु के कटोरे में डुबकी लगाना है जिससे वे, उस रजत-मण्डित स्वर्णपंखी कपोत* की तरह, नवीन पंखों के साथ उठ खड़े हों; उनके लिए, सचमुच, असंख्य घड़ियों के भविष्य में विश्वास होने के कारण, यह सम्भव है

---

* Psalms, 68. 13 "Yet shall ye be as the wings of a dove covered with silver, and her feathers with yellow gold."

कि वे अपने सीमित क्षणों को नष्ट करें। उनकी निर्बलता को देखकर निर्विरोध यह माना जा सकता है कि वे उस पाप-पक मे पड़े जिससे ही केवल पुण्य का फल पैदा हो सकता है, और उस अन्याय से फायदा उठावे जो एक दिन विस्मृति के गर्भ में डूब जायगा। गरीबो की उपेक्षा उनमे हृदय की कठोरता की सूचक नहीं है, क्योंकि उनकी दृष्टि मे उनका परमात्मा उनकी देखभाल करता है। इसी प्रकार क्षणभर के लिए उन्हें मरने देना भी, जो सदा के लिए नही मरते, उनमे निर्दयता का द्योतक नहीं हैं। पर आप के लिए तो ऐसी कोई आशा नहीं है और इसीलिए आप कोई बहाना नहीं बना सकते। गरीबों के इस भाग्य को, जो आपने उनके गले बाँधा है, आप परम्परागत मानते हो; आप उन्हे कीड़े-मकोड़ों से भी पहले मसल डालो, पर वे उफ न करेंगे,—आपको गालियाँ देने के लिए वे फिर न उठेंगे,—भूख से बन्द हो रही उनकी साँस, एक बार चली जाने पर आपको अपराधी घोषित करने के लिए फिर कभी न चलेगी,—वे और आप दोनों आपकी निगाह मे साथ-साथ मिट्टी में मिल जाओगे और कीड़े-काँटे उसे ढाँप देंगे,—और न उनके लिए कोई संतोष होगा और न आप पर बदले की बौछार होगी;—केवल आपकी कब्र पर यह सवाल सदा गूँजता रहेगा। "अपनी करनी का फल उसे कौन देगा?" अतः क्या आप के लिए फिर यह सरल है कि आपका हृदय उस पर अमिट दुःख की वर्षा करे? क्या आप, निर्दयतापूर्वक, अपने उस निर्धन बन्धु के जीवन का यह थोड़ा-सा सर्वस्व छीनकर, उसके इन इने-गिने क्षणो को दुःख की लम्बी-लम्बी घड़ियाँ बनाना चाहते हो? क्या आप उन पर अमिट अन्याय करने के लिए तत्पर हो, क्या उन्हें उस दया से वंचित रखना चाहते हो, जो केवल एक बार ही दिखाई जा सकती है और जिसे न दिखाकर, आप

सदा के लिए न दिखा सकोगे ? मेरी आप के लिए उच्च धारणा है। स्वार्थी तक के लिए मेरे हृदय में यही भावना है। मेरा विश्वास है कि ठीक २ समझने पर आप इन बातों को छोड़ दोगे। मेरी दृष्टि में जीवन की क्षणभगुरता का ध्यान करने पर आपके लिए भी यह सवाल कम गभीर नहीं है। यदि आपका जीवन कोरा बुखार का प्रदर्शन होता—कोरा रात्रि का उन्माद जिसकी करतूतें उषा के साथ हवा हो जातीं, तो यह विचार करने की जरूरत ही नहीं थी कि रोग के ये क्षण आपने कैसे बिताये,—किन खिलौनों की हस्ती को आपने मिटाया और रात्रि-जागरण से उत्पन्न तीव्र उन्माद-मुद्रित नेत्रों से आप लालसापूर्वक किन स्वप्नों के पीछे दौड़े। क्या दुनिया कोरा दवाखाना है ? खेलो, यदि खेलने की इच्छा है, तो उसकी छाती पर खुल कर बैठो ! उसके तिनकों को जिस मुकुट पर चाहो जड़ दो; तिजोरी के लिए उसकी धूल को बटोरो और अपने मरते हाथों से वायु में उड़ रहे काले कणों को पकड़ते हुए पूँजीपति कहलाकर सदा के लिए उसमें समा जाओ;—फिर भी आपके लिए यह सब अच्छा ही है। पर जीवन यदि कोरा सपना नहीं है और न दुनिया ही कोरा दवाखाना; यदि वह सम्पूर्ण सुख और, शान्ति और शक्ति, जिसे कभी आप जीत सकते हैं, आज ही जीतना है, और विजय का वह सम्पूर्ण फल यहीं मिलता है, अन्यत्र नहीं,—तो फिर क्या अब भी जीवन के इन इने-गिने क्षणों में स्वयं को अहंकार की ज्वाला में झोंकना आपके लिए श्रेयस्कर है ? यदि अन्यत्र आपके लिए आराम का कोई प्रबन्ध नहीं है, तो क्या वर्तमान में उसे पाना भी आपके लिए असम्भव है ? क्या पृथ्वी की यह घास केवल आपकी कब्र के लिए हरी है—आप उस पर नहीं सो सकते ? उसपर लेटने के बजाय क्या आप सदा उसके नीचे ही आराम करोगे ? पुरातनवादियों ने

भी, जिनका धर्म आज आपकी साँस बन गया है, कभी ऐसा नही सोचा। वे जानते थे कि जीवन अपने साथ सघर्ष भी लाया है और उसी से अपने सम्पूर्ण सघर्ष का विजय-मुकुट पाने की आशा रखते थे गर्वोन्नत मुकुट नही, स्वर्ग के अमूल्य सिहासन पर प्रकाशित मणिमय मुकुट नहीं पर शान्ति के कुछ वर्षो द्वारा थकित भौहो को ठडक पहुँचाने वाली जगली जैतून की कुछ पत्तियाँ। *उन्होंने तो सोचा था कि वह स्वर्ण की ही हो, पर बृहस्पति (Jupiter) निर्धन था, और उस देवता की निगाह मे यही सर्वोत्तम उपहार था। वे जानते थे कि इससे अधिक की आशा रखना कोरी मृगतृष्णा है। उनके लिए न तो युद्ध मे, न धन मे और न अन्याय ही मे सुख का स्रोत था;—वे तो उसके दर्शन फलप्रद एवं सुखद दयापूर्ण शान्ति मे पाते थे। ध्यान रहे कि वह विजय-मुकुट सिर्फ जगली जैतून का था—उस वृक्ष का जो प्रभूत मात्रा में प्राप्त होता है, जो अपनी मृदुल कोंपलों से शिलाओ को आच्छादित करने मे सर्वथा असमर्थ है, जिसकी टहनियों मे हरियाली नाममात्र को भी नही होती, पर जो केवल नम्र, हिमश्वेत, कलिकामंडित, फलहीन, कँटीले डठल और भूरी पत्तियो का ढाँचा मात्र है। आपका मस्तक मणिमय मुकुट की अपेक्षा इस प्रकार की प्रभामयी चिकनदोजी का बन्दी होगा। पर इसे आप, जैसा कुछ भी यह है, अपने इसी जीवन मे जीत सकते हो। यह पूर्ण सम्मान और मृदुल शान्ति का द्योतक है। उदारता, दयालुता, अटूट विश्वास, प्रतिफलति प्रेम, दूसरों की शान्ति का अवलोकन और उनके दुःख-दर्द पर एकान्त विजय; ये सब, एवं अपने सिर के ऊपर नीलाकाश,

---

* यहाँ पर रस्किन ने अपनी पुस्तक के नाम "The Crown of Wild Olive" का स्पष्टीकरण किया है।

नीचे पृथ्वी पर सुन्दर जलस्रोत और खिले फूल, प्राणवान पदार्थों के असंख्य रहस्य और उनकी स्थिति—ये सबके सब इसी जीवन में अब भी आपकी पूँजी हो सकते हैं। ये सर्वथा पीड़ारहित और दिव्यता लिये हुए, वर्तमान जीवन के लिए पूर्णतया उपयोगी और भावी जीवन के मधुर संकेत से परिपूर्ण हैं।

विजय-पथ

: १ :

कर्म

बन्धुओ,

आज मै यहाँ कोई मनोरंजक व्याख्यान देने नही आया हूँ। मुझे तो केवल आपसे कुछ प्रश्नो पर स्पष्ट बाते करनी हैं। मेरी सदा यही इच्छा रही है कि हम परस्पर गंभीर विषयो पर एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करे। इससे हमारे बीच व्यर्थ की उठी हुई कटुता का समूल नाश होगा। मजदूरों मे उठे हुए रोटी के सवाल पर मैने गंभीर चिन्तन किया है। मजदूर-संघो को मैंने सदा आशा-भरी दृष्टि से देखा है। आज इन संस्थाओ ने औद्योगिक जीवन के हर पहलू मे भयंकर उथल-पुथल मचा दी है। इनकी सच्ची सफलता इस उथल-पुथल के रहस्य को ठीक-ठीक समझने पर निर्भर है। शिक्षा का कोई न कोई ध्येय होता है। विद्यार्थी के जीवन को वह एक विशिष्ट ढाँचे मे ढालना चाहती है। उस जीवन के प्रत्येक अंग पर ठीक-ठीक विचार किये विना कोई भी शिक्षक शिक्षा की सच्ची उन्नति नही कर सकता। जन-साधारण में आपके संगठन को मजदूर-दल कहकर पुकारा जाता है। आरम्भ में ही मै यह जानना चाहता हूँ कि इस दलबन्दी के भूत और भविष्य आधार के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

वर्ग भेद की खाई

मजदूरो और दूसरे लोगो के वीच की इस खाई को आप सच्ची मानते हैं या झूठी?—इन्हीं प्रश्नो के उत्तर पर आपकी सारी शिक्षा और मनोरंजन का रूप निर्भर है। क्या आप इस दलबन्दी के वर्तमान रूप को स्वीकार करते हैं?

क्या इसमें आप कोई सुधार चाहते है अथवा इसका समूल नाश कर इसे सदा के लिए भूल जाना चाहते है ?

मैं अपनी स्थिति और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। आपकी संस्था को 'मजदूर-संघ' और आपके विद्यालय को 'मजदूर-विद्यालय' कहकर पुकारा जाता है। दूसरी भी कई संस्थाएँ एवं विद्यालय है। क्या वे आपकी संस्थाओ और विद्यालयो से भिन्न है ? क्या उन्हें 'आलसी-संघ' और 'आलसी-विद्यालय' कहा जाय ? हमारे ही कुछ खुशहाल और समझदार मज़दूर इन आलसियों को 'उच्च-वर्ग' का कहने में ज़रा भी नहीं हिचकते। क्या 'उच्च-वर्ग' जैसी कोई चीज़ है ? क्या कोई 'निम्न-वर्ग' भी है ? क्या इस उच्च और निम्न-वर्ग की कोई सीमा भी है ? बन्धुओ, मै आपसे क्षमा चाहता हूँ। मै अकेला ही ऐसी बात कहने वालो मे नही हूँ।

मजदूर बनाम आलसी

आज संसार में उठे हुए युद्ध और अकाल के काले बादलो का हाहाकार भी इन्ही शब्दो को दोहरा रहा है। मै जानता हूँ कि आप लोगो में कई महानुभाव मुझसे भी अधिक दयालु है, पर मै तो यह सब आपके सम्पूर्ण वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से कह रहा हूँ। यह संभव है कि आप उन्हे अज्ञान-वश 'उच्च-वर्ग' के नाम से पुकारते हो, पर केवल इसी कारण यह भूल उपेक्षा की दृष्टि से नही देखी जा सकती। जान-बूझ कर की गई भूल हमारी इच्छा पर निर्भर रहती है पर अनजाने की गई भूल की भी कोई सीमा है !

'उच्च' और 'निम्न' वर्ग

इस 'उच्च-वर्ग' का आपसे क्या ताल्लुक है—इसका स्पष्ट उत्तर दो। क्या इसे 'आलसी-वर्ग' के नाम से पुकारना आपकी निगाह में ठीक है ? इन बातो से अवश्य आपको बेचैनी होगी। आप सोचते होगे कि सारे

अमीरों को आलसी कहना मेरे सच्चे दिल की पुकार नहीं है। बिल्कुल ठीक है। बिना आक्षेप किये मुझे इस तरह बोलने देने से आप ज़रूर अन्याय और विचार-विहीनता के भागी होंगे, पर वे अमीर आप से भी अधिक अन्यायी और विचार-विहीन है जो ग़रीबों को आलसी और काम-चोर कह कर पुकारते हैं।

आलस्य और श्रम वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं

सच्ची बात तो यह है कि दुनिया में आलसी 'गरीब' और आलसी 'अमीर' दोनों ही हैं। मेहनती 'ग़रीब' और मेहनती 'अमीर' की भी यहाँ कमी नहीं है। कई भिखारी * ऐसे मस्त होते हैं मानों उन्हें दस हज़ार सालाना मिलता हो और कई अमीर ऐसे हैं जो अपने सेवक से भी अधिक काम करते हैं। उदार दृष्टिकोण से देखने पर पता चलेगा कि सच्चे-झूठे की तरह मजदूरों और आलसियों का यह भेद हर समाज में उसकी आन्तरिक परिस्थिति के अनुसार पाया जाता है। गरीबों और अमीरों में सबल मज़दूर और निर्बल आलसी दोनों वर्तमान हैं। 'मज़दूर' अमीरों को 'आलसी' अमीरों की और 'मज़दूर' गरीबों को 'आलसी' ग़रीबों की सदा निन्दा करनी चाहिए। पर व्यवहार में यह बात नहीं देखी जाती। प्रत्येक दल दूसरे दल के दुर्गुणों को ही देखता है। हम रात-दिन देखते हैं कि 'मजदूर' अमीर मस्त फकीर को देख कर आग बबूला हो जाता है और 'मजदूर' गरीब आलसी अमीर के लम्पट और विलासी जीवन को देखकर भड़क उठता है। एक दल के बुद्धिमान दूसरे दल के मूर्खों की ही आलोचना में तत्पर रहते हैं। दोनों दलों के न्यायप्रिय लोगों की कड़ी आलोचना अन्यायियों के दिलों में भयंकर शत्रुता पैदा करती है। निर्धन समाज

* गरीबी की अन्तिम सीमा।

के लम्पट लोग अमीरों को अपना स्वाभाविक शत्रु समझते हैं। उनका ध्यान सदा अमीरों की इमारतों को लूटने में लगा रहता है। पराये धन को हड़पने की उधेड़-बुन में वे सदा तत्पर रहते है। सम्पन्न समाज में भी दुराचारियो को छोड़कर और कोई ग़रीबो के दोषों का अपमान-जनक भाषा मे वर्णन नही करते है।

सारांश यह है कि मजदूरो और आलसियो मे कोई वर्ग-भेद नही है। आज मैं केवल मजदूरो की ही चर्चा करूँगा। आलसी लोग तो हमारे मार्ग के काँटे हैं। उनकी चर्चा चलाना व्यर्थ है। मज़दूर लोग भी वर्ग-भेद से बचे नही है। उनमे भी कई भयंकर भेद हैं जो मानव के सुख-दुःख रूपी असीम थर्मामीटर की प्रत्येक डिग्री पर चढते-उतरते हैं। ऊँच-नीच, सफल-असफल आदि कई भेद आज भी हमारे हृदय-पटल पर अंकित है।

अब हम इस वर्ग-भेद और इसके आधार-भूत नियमो का वर्णन करेंगे। यह केवल मज़दूरों तक ही सीमित न होगा। कर्म के अन्तर्गत मज़दूर और खिलाड़ी दोनो आते हैं। उद्देश्यपूर्वक या निरुद्देश्य दोनो को ही अपनी शक्ति का व्यय करना पडता है।

वर्ग-भेद के प्रकार

मुख्य भेद चार हैं—

१—मज़दूर और खिलाड़ी का भेद।

२—उत्पादक और उपभोगकर्त्ता का भेद।

३—बुद्धिजीवी और श्रमजीवी का भेद।

४—विवेकी और अविवेकी का भेद।

दूसरे शब्दो में हम निम्नलिखित बातो पर परस्पर विरोध की छान-बीन न करेंगे—

१—कर्म और खेल।

२—उत्पादन और व्यय।

३—बुद्धि और शरीर।

४—विवेक और अविवेक।

मज़दूरों और खिलाडियों पर विचार करने के पूर्व हमें कर्म और खेल के अर्थ को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। सरल शब्दों में 'उद्देश्य-युक्त आवश्यक कार्य की पूर्ति' को कर्म और 'निरुद्देश्य स्वान्तःसुखाय सम्पादित शारीरिक एवं मानसिक श्रम' को खेल कहते हैं। उदाहरण के लिए क्रिकेट के खेल को लीजिए। इस खेल में दूसरे कार्यों के बराबर श्रम होने पर भी आनन्ददायक होने के अतिरिक्त इसका और कोई उद्देश्य अथवा फल नहीं है। फिर भी स्वास्थ्य-लाभ की इच्छा से सुव्यवस्थित रूपेण व्यायाम समझ कर खेले जाने पर यह प्रत्यक्ष रूप से कर्म ही होगा। इसी प्रकार स्वान्तःसुखाय किया गया निरुद्देश्य कर्म खेल ही कहलायेगा। उपयोगी के बजाय वह आनन्ददायक है। साधारण अर्थ में खेल उपयोगी हो सकता है। कभी-कभी दूसरे कार्यों से वह अधिक आवश्यक और उपयोगी भी हो सकता है। परन्तु उसका उपयोग केवल समयापेक्षी है।

कर्म और खेल

अब हम अपने देश के खिलाडियों के सर्वप्रिय खेलों का वर्णन करेंगे। सम्पूर्ण खेलों में "पैसा पैदा करना" सर्व श्रेष्ठ खेल माना जाता है। इसकी गणना प्रथम श्रेणी में की जाती है। यह सर्वाधिक आकर्षक खेल है। इसके फेर में पडकर मनुष्य अपनी सुध-बुध भी भूल जाता है। हम सदा एक दूसरे को उधेडने की धुन में तत्पर रहते हैं। फुटबाल आदि दूसरे खेलों से इसमें हम एक कदम आगे बढ़ जाते

पैसा पैदा करने का खेल

है। साथ-साथ हमारा यह कार्य पूर्ण निरुद्देश्य भी है। इसके खिलाड़ियों को यह भी मालूम नही है कि वे इसे क्यों खेलते हैं। बड़े से बड़े धन-वान से पूछो कि वह अपने धन का क्या करेगा? धन की लालसा ही केवल इसका मूल कारण है। उससे पूछो कि अपनी सचित पूँजी का वह क्या उपयोग करना चाहता है? वह तत्काल जवाब देगा कि उससे तो वह अधिकाधिक पैदा करेगा। बिल्कुल ठीक है। वह चाहता है कि क्रिकेट मे अधिकाधिक 'रन' मिलने की तरह उसकी पूँजी का भी विस्तार होता जाय। 'रन' बनाने से कोई फायदा नही है पर दूसरो से बाजी मार ले जाना ही इस खेल का उद्देश्य है। धन से भी कोई उसूल हासिल नहीं होता पर दूसरो से अधिक धनवान् कहलायें, यही इस खेल का तात्पर्य है।

यह जहरीला लंदन

सामने देखो,—वह दूपित विशाल लंदन नगर है—खड-खड, गर्र-गर्र ध्वनि-गुंजित, धूमिल, दुर्गन्धित, सर्वत्र ज़हर उगलता, एक उभरा हुआ ईंटों के काम का निर्जीव ढेर है! क्या यह कर्मप्रधान नगर है? उसका एक मोहल्ला भी नही! वह तो एक विशाल खेल-प्रधान नगर है—महागन्दा और महा कठोर खेल!!! वह तो लार्डों (धनिको) के क्रिकेट का तृणरहित सपाट मैदान है—वस्त्रहीन कलुप के गड्ढे (नरक) की तरह बड़ी-बडी जेबों वाली विशाल बिलियर्ड * की टेबल है।

यह हमारे सर्वश्रेष्ठ खेल का रूप है। दूसरे खेलो से इसमें काफी अन्तर है। दूसरे खेल यदि व्ययप्रधान हैं तो यह उत्पत्ति का साधन है। फिर भी इससे सदा उत्पादन होता हो यह बात नहीं है। पैसा पैदा करना और पैसा प्राप्त करना दोनो भिन्न बातें है।

पैसा पैदा करना बनाम पैसा प्राप्त करना

---

* एक अंग्रेजी खेल।

दूसरों की जेब से अपनी जेबें भरने और दोनों की भरने मे ज़मीन-आस्मान का अन्तर है।

शिकार' हमारा दूसरा महान् खेल है। यह अत्यन्त व्यय-प्रधान खेल है। प्रति वर्ष भूमि, घोडे, शिकार ढूँढने वाले लोग एव अन्य आवश्यक उपकरणो को जुटाने में हमें कितना धन खर्च करना पडता है इसकी आज हम कोई गणना नही करेंगे। फिर भी यह बात आपको ध्यान में रखने की है कि व्यायाम के अतिरिक्त निष्प्रयोजन होने के साथ-साथ यह खेल उसके खिलाडियों के लिए अत्यन्त ख़तरनाक है, क्योकि घुडदौड़ के द्वारा वे 'रेस' के सट्टे की सारी रीतियो को जान जाते है। इस खेल में कोई आराम अथवा लाभ नही है। इसमें हमें शिकार-रक्षा के लिए भूमि की विचित्र व्यवस्था करनी पड़ती है। जिस भूमि में शिकार खेला जाता है उसमें थोड़े-से पशुओं के जोडे स्वच्छन्द फिरते हैं पर मनुष्य के रहने की जमीन पर छोटे-छोटे कमरो में अंधाधुंध मानव-युगल (स्त्री-पुरुष) घुट-घुट कर जान देते है। पशु और पुरुष के रहने की कैसी विचित्र व्यवस्था है !

सभ्य लोगों के इस खेल के बाद स्त्रियो की वेष-भूषा के खेल का नम्बर आता है। यह कोई सस्ता खेल नही। कल ही मैने एक

नारी की सजावट का खेल

जौहरी की दुकान पर ४५००० रुपये कीमत का एक छोटा-सा रत्न-जटित हार देखा है। विभिन्न देशों मे इस खेल की मद में व्यय होने वाली रकम का व्योरा देने का मेरे पास इस समय अवकाश नहीं है। कुछ भी हो, यह एक सुन्दर खेल है। कुछ अंश में मैं इसे पसन्द भी करता हूँ। मेरा तो विश्वास है कि यह खेल पूरी तरह खेला भी नहीं जाता। देखिये, फैशन का आप नेतृत्व करना चाहतीं

है; अवश्य करें, पूरी तरह करें, आप स्वयं सुन्दर वस्त्रों को धारण करें पर साथ-साथ दूसरो को भी करायें। प्रथम निर्धन के लिए फैशन का नेतृत्व करें। देखें कि सुन्दर वस्त्र धारण कर वे सुन्दर दिखाई देते है फिर तो आप स्वयं कई सुन्दर तरीकों से अधिकाधिक सुन्दर दिखाई देंगी। आपके द्वारा प्रचारित फैशन का वर्तमान रूप ग़रीबो के लिए काल है। फटे चिथडो मे वे लिपटे रहते हैं और हवा स्वच्छन्दतापूर्वक उनसे अठखेलियाँ करती हैं।

उपर्युक्त खेलो के अतिरिक्त और भी कई खेल है।—इनसे भी अधिक बर्बर पर मेरे पास इतना समय नही है कि मै उनका विस्तृत वर्णन करूँ। साहित्य से मखौल किया जाता है और कला से खेला जाता है। साहित्य-निर्माण और कला-निर्माण दो भिन्न बाते है। आज इन विषयो की चर्चा यहाँ नहीं उठाऊँगा। अब मैं आपका ध्यान खेल-शिरोमणि सभ्यों के सर्वश्रेष्ठ खेल की ओर आकर्षित करूँगा। पुरुषो को इसे खेलते देखकर स्त्रियाँ आनन्द में डूब जाती हैं। यह खेल है "युद्ध"। कल्पना मे मोहक और प्रिय प्रतीत होते हुए भी इसकी यथार्थ बाते सदा प्रिय नही होती। दूसरे खेलो की अपेक्षा इसमें हम खूब लुभावने वस्त्रों से सज्जित होते हैं। शिकार की तरह युद्ध-गमन के समय हम केवल निहायत सुर्ख़ रंग के वस्त्रो को ही धारण नही करते बल्कि रक्ताभ वस्त्रो और स्वर्णालंकारो से लद कर विभिन्न प्रकार के मनमोहक रंगों से मंडित होते है। यह संभव होते हुए भी कि इनके बिना हम लड सकते हैं आज सम्पूर्ण राष्ट्रो ने इस खेल के समय सुन्दर वस्त्रो को धारण करने की बात स्वीकार कर ली है। ज़रा देखो—इसके 'बैट' (तोप) और गेंद (गोले) भी कितने कीमती

खेलों का खेल —युद्ध!

होते है ! 'बर्मिंघम' राष्ट्र म इन बेटो और गेंदों की भेंट हर साल असंख्य रुपया चढ़ता है ! यह रक़म उन ग़रीब मज़दूरों के खेतों और मिलों में काम करने से प्राप्त मज़दूरी का ही अंश है ! उफ़, कितना महँगा है यह खेल !!! इसके परिणाम की चर्चा चलाना तो सर्वथा बेकार है। इन बातो के उल्लेख करने का तात्पर्य केवल यही है कि आप इन खेलो पर किये जाने वाले वर्तमान व्यय पर जरा गौर करें। कही-न-कही ये प्राण-नाशक कार्य की नींव पर ही कायम है। मणि-कट्टक, जिसकी निगाह सदा हीरे पर ही गडी रहती है, जुलाहा जिसका हाथ सदा थान पर ही पडा रहता है, लुहार जिसकी साँस सदा भट्टी के साथ-साथ चलती है—इन सबसे पूछो कि कर्म क्या है ? काम-काम-काम बस इनकी आँखों में सदा यही झूलता रहता है ! बेचारे जानते भी नहीं कि खेल किस चिडिया का नाम है ! हाँ, खेल के एक रूप से ये अवश्य परिचित हैं। उसका नाम उन्हों ने स्वयं रखा है "बीमारी की बलि।" *

जरा उस भयंकर खेल को देखो

खेल 'सट्टे' और 'बीमारी की बलि' दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। स्वयं के लिए—निर्बलों के लिए नहीं—आनन्द-रहित एक क्षण को भी दुर्भाग्य समझने वाले हे सभ्यो और देवियो, आपके कारण ही आज आनन्द-विभोर राष्ट्र की छाती पर खेल का यह दूसरा अर्थ ही खेल रहा है ! आप खूब राग-रंग करो पर बाज़ार में फिरने वाले उन आवारा, जर्जर और मासूम बच्चों को भी देखो—इतने

---

* इंगलैंड के उत्तरीय प्रदेश के बिर्मिंघम (Birmingham) शहर में, जो एक विशाल औद्योगिक क्षेत्र है और जहाँ असंख्य मजदूर निरंतर कोयले और लोहे ढोने में तत्पर रहते हैं, खेल का अर्थवाहक अंग्रेजी शब्द 'प्ले' इस अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

साहसहीन कि वे आपको अपने साथ खेलने-कूदने का निमंत्रण भी नही दे सकते। पर याद रहे, अनंत स्वर में वे ही आप से कहेंगे कि आपके सामने वे खूब रोये-चिल्लाये पर आपने उनके आर्त्तनाद पर ज़रा भी कान नही दिया।

उच्च और निम्न वर्गों का यह पहला भेद है। यह भेद सर्वथा अनावश्यक है। सब भले आदमियो की राय में इसका नाश होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह भाव होना चाहिए कि दूसरो के रक्त पर आश्रित खेल मानवो की अपेक्षा रक्त-शोषक मच्छरों के लिए ही अच्छा है। आलसियो की तरह जीने से समय और जीवन पवित्र नही किये जा सकते। दिवसारम्भ की सर्वोत्तम स्तुति यह है कि उसका एक क्षण भी व्यर्थ बर्बाद न हो। भोजन के पूर्व सदा हमें यह ज्ञान रहना चाहिए, कि हमारी कमाई बिल्कुल खरी है। ये सीधे-सादे धर्म-सिद्धान्त जब हमारे प्राणों में पुनः घुल-मिल जायँगे और जब "बेटे, जाओ और मेरे बाग़ में काम करो"* का अर्थ "गधे, जाओ और मेरे बाग़ में खेलो" न समझने की ईश-प्रेरणा को हम आदर से देखेंगे, तभी हम सच्चे कर्मयोगी कहलायेंगे और ऊँच-नीच का यह भद्दा भेद सदा के लिए हमारी आँखो से ओझल हो जायगा।

ईमानदारी और परिश्रम का जीवन

अब दूसरे भेद पर विचार कीजिए। यह धनवान् और निर्धन का, कुबेर और सुदामा का—भेद पूर्व काल की अपेक्षा वर्तमान समय मे अधिक पाया जाता है। एक ही दिन दो समाचारपत्रो मे प्रकाशित दो उद्धरणो

---

* "But what think Ye ? A Certain man had two sons, and he came to the first, and said, Son, go, work today in my Vineyard" Matthew XXI. 28.

को देकर मैं भी इसे आपके सामने बड़े चुभते हुए रूप मे पेश करता हूं।

पहला उद्धरण इस प्रकार है—"एक विचित्र प्राणी यहाँ मौजूद है। उसे हम "क" कह कर पुकारेंगे। सुन्दर वस्त्रों से वह सज्जित है। शिष्टाचार में उसकी कुलीनता के साथ-साथ स्वच्छन्दता झलकती है। उसके शांत रूप की कोमल गंभीरता किसी भी तरह भंग नही होती। एक बार वह एक होटल में नाश्ता करने बैठा। बिल आने पर उसने पढा—'१५ फ्रेन्क्स् के दो शफतालू।' उसने बिल चुका दिया पर इन शब्दो के साथ—'शायद् शफतालू अप्राप्य है।' वेरे ने कहा—'नहीं महाशय, शफतालू का यह सीजन नही है'।"[1]

भयंकर गरीबी

दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—"एक स्त्री धर्मशाला के पास चौक में पड़े गोबर के ढेर की तरफ से जा रही थी। वहाँ उसने एक आदमी को ज़मीन पर पड़े देखा। वह शायद् मर चुका था। उसने तत्काल इसकी इत्तिला निकटवर्त्ती सिपाही को दी। जाँच करने पर उसकी बात ठीक निकली। वह गरीब ऐसा लगता था मानो कई घंटे पूर्व इस दुनिया से कूच कर गया हो। बरसात की मार से रात भर सर्दी में ठिठुर कर उसने प्राण छोड़े थे। हड्डियाँ बटोरना उसका धंधा था। निर्धनता की पराकाष्ठा पर वह पहुँच चुका था। भूखा-नंगा वह स्वयं हड्डियों का एक ढाँचा मात्र था। शाम से सुबह तक सिपाही उसे कई बार वहाँ से खदेड़ चुका था। निदान उसने अपनी दीन मृत्यु के लिए एकान्त जगह ढूँढ़ ही निकाली। उसकी जेब में कुछ हड्डी के टुकड़े और एक पैसा मिला। ५०—६० के करीब उसकी उम्र थी। लावारिसों की सूची में उसका नाम दर्ज किया गया।"[2]

---

१ 'टेलीग्राम' : २५ नवम्बर १८६४।

२ 'मार्निंग पोस्ट' २५ नवम्बर, १८६४।

संक्षेप मे ये दो विरोधी बातें प्रस्तुत की गई हैं। "उसकी जेब मे कुछ हड्डी के टुकड़े और एक पैसा मिला" जरा इन पंक्तियों का मिलान निम्नलिखित तीसरे उद्धरण से करो—

"हमारे देश के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ अर्थशास्त्रियों-द्वारा तरुण और युवा निर्धनो के आहार की मात्रा स्थिर की गई है। परिभाषा में थोडी होने पर भी जीने के लिए वह काफ़ी है। परन्तु यह सुना गया है कि 'निर्धन हक कानून' (Poor Law Act) के पास होने के दर्म्यान में ही एंडोवर युनियन (Andover Union) में गरीब लोग घोड़ो की हड्डियो मे से, जिनके टुकडे करने पर वे तैनात थे, गन्दे मॉस के टुकडो को कतर-कतर कर गूदे को चूसते थे।"[१]

'हमारे सुदामा की स्थिति यहूदी सुदामा[२] से कही बुरी है' मेरी इस बात को अब आप समझ गये होंगे। यहूदी सुदामा को यह आशा थी अथवा कहिए कि उसने यह प्रार्थना की थी कि धनवान् की थाली के टुकडो से उसका पेट भरा जाय। पर हमारा सुदामा तो कुत्ते की टेबल के टुकड़े पर ही जीना चाहता है!

धनवान् और निर्धन का यह भेद केवल निम्नलिखित दो बातों पर आश्रित है—(१)—सुमर्यादित, नियमित एवं आवश्यक। तथा (२)—अमर्यादित, अनियमित एवं अनावश्यक।

---

१ टेलीग्राफ, १६ जनवरी, १८६५।

२ यहूदी सुदामा से तात्पर्य है—लाजरस जिसका उल्लेख Luke 16. 19—31.—में मिलता है—"—and there was a certain beggar named Lazrus, which was laid at his gate,......... And desiring to be fed with crumbs which fell from the rich man's table "

धन की नियमित (जायज़) बुनियाद का आधार यह है कि हर मजदूर को उसके श्रम का यथार्थ मूल्य मिले और यदि आज वह उसे व्यय न करे तो कल व्यय करने के लिए उसे संचित करने दिया जाय। इस तरह दैनिक श्रम करने वाले मज़दूर के पास थोड़े समय में संचित धन की एक ख़ास रक़म हो जायगी जिस पर उसका एकाधिकार होगा। इसी मध्य मे अकर्मण्य, आलसी और सर्वस्वस्वाहा करने वाला मनुष्य दो प्रकार से निर्धन हो जायगा। धन और आचार दोनो उसके हाथ से निकल जायँगे और सदा दूसरो की खरी कमाई के संचित धन पर उसके दाँत लगे रहेंगे। यदि डाका डालकर उसे दूसरो की संचित रकम को लूटने दिया जाय तो बचत और सदाचार के सदुद्देश्यो की कोई कीमत ही न रहेगी। सारे समाज के बन्धन ढीले होकर उसमें सदा लूट-मार ही चलती रहेगी। अतः शुद्ध एवं सच्ची राष्ट्रीय भावना से कानून का प्रयोग ही सामाजिक जीवन की प्रथम आवश्यकता है। दूसरे शब्दो में कानून का ऐसा प्रयोग होना चाहिए, कि खरी कमाई करने वाला हर इंसान अपनी उस संचित रकम की ठीक-ठीक रक्षा कर सके।

भेद का कारण

कानून का उपर्युक्त रूप ही धनी और निर्धन के भेद का सच्चा आधार है। पर यह भेद मिथ्याधार से भी मुक्त नहीं है। वह मिथ्याधार है—धनहर्त्ताओं का धनोपार्जनकर्ताओं पर एकाधिकार। प्रत्येक समाज में ऐसे मनुष्यों की भरमार है जिनके जीवन का मूलोद्देश्य केवल पैसा बटोरना ही है। ये सब अशिक्षित, निर्बुद्धि और कायर लोग हैं। केवल धनोपार्जन को ही अपना मूलोद्देश्य बनाना एक सुशिक्षित, बुद्धिमान एवं वीर पुरुष के लिए स्वभावतः असंभव है ठीक वैसे ही जैसे केवल खान-पान

पैसा ही जीवन का लक्ष्य नहीं

को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना उसके लिए असंभव है। प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति सदा भोजन की इच्छा करता है पर कोरा भोजन ही उसके जीवन का मूलोद्देश्य नहीं है। इसी तरह सब सुविज्ञ लोग पैसा पैदा करना चाहते है। पैसा पैदा करना और उससे होने वाले आनन्द का उपभोग करना उनके लिए बिल्कुल ठीक है। पर केवल पैसा ही उनके जीवन का मूलोद्देश्य नहीं है। वह तो उससे कहीं ऊँची चीज़ है। एक सैनिक को लीजिए। उसकी सदा यही इच्छा रहती है कि युद्ध मे अपने जौहर दिखावे—वेतन पाकर वह खुश होता है। यदि १० वर्ष उसे वेतन न मिले तो वह जरूर बिगडेगा—फिर भी उसके जीवन का उद्देश्य तो वेतन पाने की अपेक्षा विजय पाना ही है। यही हाल पंडितो का है। वे नाम-संस्कार की दक्षिणा चाहते है पर यदि वे सुसंस्कृत और निर्भय प्राणी है तो उनके लिए यह दक्षिणा ही उनके जीवन का सारतत्त्व नही है। उनका मूलोद्देश्य तो जनसाधारण में संस्कार और धर्म प्रचार करना है। इन कार्यों से कुछ पाना तो एक गौण बात है। डाक्टर को भी निस्सन्देह फीस प्रिय है—बिल्कुल स्वाभाविक—फिर भी कोरी फीस ही उसके जीवन का लक्ष्य नही है। यदि वह सुसंस्कृत डाक्टर है तब तो रोगी की हत्या कर फीस पाने की अपेक्षा फीस खोकर रोगी को अच्छा करने मे वह अधिकाधिक दिलचस्पी लेगा। यही हाल प्रत्येक सुसंस्कृत और निर्भय व्यक्ति का है। पहले काम फिर फ़ीस ही उसके जीवन का क्रम होता है। यही सच्चा कर्म-प्रेरक सूत्र है। फीस का सदा महत्व है, पर गौण। प्रत्येक राष्ट्र मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मनुष्यों का एक ऐसा विशाल दल है जो अशिक्षित, निर्बुद्धि और कायर है। जिस तरह एक वीर के लिए कर्म प्रथम है और फीस गौण उसी तरह इनके लिए फ़ीस सर्वस्व है और कर्म गौण। यह कोई छोटा-मोटा भेद नही है। मनुष्यो में यह एक ख़ास

भेद है। उनके लिए यह जीवन-मरण का—स्वर्ग-नरक का भेद है।

परमात्मा के सेवक बनाम शैतान के सेवक

एक म्यान मे दो तलवारें कभी नहीं रह सकती। एक ही वक्त में आप दो मालिकों की सेवा नहीं कर सकते। यदि आप कर्म को प्रधानता देते है तो फ़ीस का सवाल बाद में आता है। इस दशा में कर्म ही आपका मालिक और कर्म का मालिक स्वयं ख़ालिक है। पर यदि फ़ीस को आप सर्वस्व समझते हैं और कर्म को गौण तब तो फ़ीस ही आपका मालिक और फ़ीस का मालिक स्वयं शैतान है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि यदि आप कर्म को प्रधानता देते है तब तो आप स्वयं परमात्मा के सेवक है और यदि आपके लिए फीस प्रधान है तब तो आप स्वयं शैतान के सेवक है। अतः कर्मण्य पुरुष राजाओ के राजा का सेवक होने के कारण पूर्ण स्वतन्त्र है पर फीस-लोलुप गुलामो के गुलाम का सेवक होने से पूर्ण परतन्त्र है। इससे दोनो का भेद स्पष्ट हो जाता है।

प्रत्येक राष्ट्र में इन शैतान के सेवकों की संख्या कुछ न कुछ होती ही है। और यह आवश्यक भी है। ये लोग ख़ास कर जड प्रकृति के होते हैं और पैसा ही इनकी आँखो का तारा है। जडता निर्दयता की जननी है। जुडास (Judas) * को दुष्ट-शिरोमणि कहकर हम उसके साथ अन्याय ही करते है। वह तो केवल धन-लोलुप था और दूसरे धन-लोलुपों की तरह उसने भी ईसा को नहीं पहचाना। वह न

* ईसा के मुख्य १२ शिष्यों में जुडास भी एक था। यह बड़ा लालची व्यक्ति था। इसने उन चाँदी के टुकड़ों के लिए अपने स्वामी से दग़ा कर उसे विरोधियों के हवाले कर दिया और उसकी हत्या के पाप का भागी बना। —देखो, मैथ्यूस २६, मार्क १४, लूक २२, जान १८

ईसा की कीमत ही आँक सका और न उसके अर्थ को ही ठीक-ठीक समझ सका। वह नहीं चाहता था कि उसके स्वामी की हत्या हो। ईसा की फाँसी का हाल सुनकर उसकी आत्मा भय से काँप उठी। उसने तत्काल धन को लात मारकर अपनी बलि चढा दी। ज़रा विचार करो कि आज कितने धन-लोलुप ऐसे है जो किसी की हत्या होते देखकर अपनी बलि चढाना पसन्द करेंगे। जुडास तो फिर भी केवल एक साधारण स्वार्थी, जड़ और उठाईगिरा था। उसकी नीयत सदा गरीबो की जेबों मे हाथ मारने की रहती थी। वह ग़रीबों की कोई परवाह नही करता था। ईसा को न समझने पर भी उसमें उसका हमसे अधिक विश्वास था। ईसा की करामातें उसकी आँखो में सदा झूलती थीं। उससे वह पूर्ण परिचित था। इसी प्रभाव के कारण उसकी धारणा थी कि ईसा को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। फिर वह क्यो 'आई हुई लक्ष्मी' का तिरस्कार करे। उसका विश्वास था कि ईसा तो अवश्य बन्धनमुक्त होगा फिर यदि उसकी चाँदी होती हो तो वह क्यो उसको छोड़े। सारी दुनिया के पैसा पैदा करने वालो का यही हाल है। परमात्मा से वे घृणा नही करते। सत्य तो यह है कि परमात्मा को वे पहिचानते नही और न उसकी परवाह ही करते है। परमात्मा की सौम्यमूर्त्ति मे उन्हें सौन्दर्य दिखाई नही देता। परमात्मा की आड में वे शिकार खेलना चाहते है और उसके ज़रिये सदा अपना उल्लू सीधा करने की फिक्र मे रहते है। इन पूँजीपतियों की प्रत्येक मानव-समाज मे सदा एक विशेष संख्या होती है। इनका प्रधान लक्ष्य पैसा पैदा करना है। यह प्रथम फ़ीस-पूजक है। पैसा ये अवश्य पैदा करते हैं—हर पाप-पूर्ण उपाय से ये पैसा पैदा करते है। इसमें पैसे का ही बल इनका

परमात्मा को भूले हुए रुपये के गुलाम

प्रधान सहायक है। दूसरे शब्दों में पूँजी के प्रताप से ही ये पैसा पैदा करते है। एक बार प्राप्त धन का ग़रीबो के श्रम पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। उस प्रभाव की बदौलत ये धनिक लोग केवल अन्न-पानी को छोड़-कर उस ग़रीब के कठोर परिश्रम की सारी कमाई ख़ुद ही चट कर जाते हैं। वर्तमान ज़ुडास का थैली के मुँह को खोलकर उसमे आनेवाली रकम को हज़म करने का यही तरीका है।

लाभ का अनौचित्य

अक्सर यह प्रश्न उठता है कि इसको अनुचित क्यो कहा जाता है ? क्या पसीना बहाकर धनोपार्जन करनेवाला अपने उस धन का सर्वो-त्तम उपयोग करने का अधिकारी नही है ? हाँ, बिल्कुल नही है। धनोपार्जन का वर्तमान रूप तो पूर्वकाल के सार्वजनिक मार्गों पर बने हुए दृढ़ किलो की तरह है। उन किलो पर अधिकार जमाने के लिये सरदार लोग खुलकर युद्ध करते थे। शक्तिशाली और बुद्धिमान उन्हे जीतकर दृढ बनाते थे और उनके नीचे से जानेवाले राहगीरो से कर वसूल करते थे। आज धन का भी उन्हीं पहाडी टीलों की तरह उपयोग हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य धन के लिए दूसरे मनुष्यों से खुल कर लडता है। एक बार विजयी होने पर—पूँजी संचित होने पर—वह सर्वथा सुरक्षित सरदार—करोडपति अपनी पूँजी के नीचे चलने वाले राहगीर-मज़दूरो को उसका कर देने के लिए मजबूर करता है। इस प्रकार वह अपनी पूँजी के गढ़ का दूसरा गुम्बद खडा करता है। आज के गरीब राहगीर भी इन थैली वालों के कारण उतने ही दुखी हैं जितने पहले वे उन टीलाधिपतियों के कारण थे। फटे चिथडो पर थैली और टीले का समान प्रभाव है। आज मै पूँजी के अनर्थों की संख्या का बखान नहीं करूँगा। केवल आपके सम्मुख एक तर्क सम्मत महान् तत्त्व रखता हूँ। जब धन किसी

भी मानव अथवा राष्ट्र के जीवन का प्रधान लक्ष्य होता है तब उसकी प्राप्ति और व्यय दोनों ही अन्याय पर आश्रित हो जाते है और उनमे गहरी हानि उठानी पड़ती है; पर यदि वह प्रधान लक्ष्य न हो तो वह एव अन्य वस्तुएँ सुलभ होकर उनका ठीक-ठीक व्यय होता है। इस तत्त्व को आप अच्छी तरह हृदयंगम करले। अब आपके सामने धन किसी भी मनुष्य का प्रधान लक्ष्य है या नही इसको जानने की कसौटी पेश करता हूँ। प्रौढ होने पर मनुष्य यदि कहे कि अपने निर्वाह के लिए उसके पास यथेष्ट धन है, भविष्य मे उसी से वह अपनी गुजर-बसर करेगा, उसने खरी कमाई से अपना यह धन सचित किया है, उसका वह सदुपयोग करेगा, दुनिया मे न वह कुछ लेकर आया था और न लेकर जायगा आदि-आदि तब तो हम कह सकते है कि धन उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य नही है। इसके विपरीत यदि वह अपनी स्थिति के अनुकूल अपने निर्वाह के लिए यथेष्ट धन होते हुए भी अधिकाधिक धन पाने की लालसा रखता है और अमीर कहलाकर मरने की उसकी तृष्णा है तब तो धन ही उसका प्रधान लक्ष्य है—उसका सर्वस्व है और उसकी मृत्यु के बाद उसके वारिसों के लिए अभिशाप है। यह सर्वसिद्ध सत्य है कि उस धन का किसी न किसी प्रकार व्यय अवश्य होगा। पर प्रश्न यह है कि उसे व्यय करने का सच्चा अधिकारी कौन है?—क्या उसका कमाने वाला अथवा अन्य कोई? साधारणतः उसका कमाने वाला ही उसका सर्वोत्तम व्यय करता है क्योंकि अपनी कमाई का मूल्य और उसका उपयोग वही अच्छी तरह जान सकता है। जीवन का यही सत्य नियम है। अपने धन का स्वयं उपयोग न करने पर उसके लिए दो ही मार्ग खुले हुए हैं—(१) संचय करना अथवा (२) सूद पर उधार देना। उधार देना ही

लक्ष्यनिर्धारण की कसौटी

पाप करना है। कर्जदार विशेष अपव्ययी होते है। कर्ज दी गई पूँजी ही सारे अनर्थों की जड़ और अन्यायमूलक युद्धों की जननी है।

विदेशों को कर्ज देने के विचित्र रहस्य पर ज़रा गौर करो। आपका बच्चा पटाखे के लिए ज़िद करता है। पैसा माँग-माँग कर वह आपको हैरान करता है। पटाखे जलते है और आप उनमें अपने पैसे को जलता देखते हैं। यह जानते हुए भी कि आपके बच्चे ने कोई शरारत नहीं की आप अपने पैसे को बर्बाद हुआ मानते है। पर युरोप के वे ही बच्चे जब आपसे कर्ज माँगते हैं और आप यह जानते हुए भी कि उस धन को वे अज्ञानतावश पटाखों में बर्बाद करने के बजाय जान-बूझकर उपनिवेशो को हड़पने के लिए तोप और गोले खरीद कर उन छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रों के स्त्री-बच्चो का खून करने में खर्च करते है, आपकी थैलियों का मुँह झट खुल जाता है। इसका क्या रहस्य है? यही न कि वे आपको व्याज देते है! जरा ग़ौर करो कि उस व्याज के लिए उन्हें अपने गरीब किसानो को कर देने के लिए मजबूर करना पडता है और उन बेचारों की पसीने की खरी कमाई से आपका पेट भरा जाता है! इस प्रकार आप एक राष्ट्र के किसान को ठगते हो, दूसरे के मज़दूर की हत्या करते हो—उसे विदेशों में भीख माँगने और दर-दर की ठोकर खाने के लिए विवश करते हो और स्वयं चोरी के धन और निर्मम हत्या की घूस पर जीते हो! यह खुला सत्य है—यह वैदेशिक कर्ज और व्याज का व्यावहारिक अर्थ है!!!

कर्ज देने के मूल में

बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के तृतीय विभाग पर अब हमें विचार करना है। इस विभाग से एक गंभीर भेद का बोध होता है। शारीरिक श्रम हमारी जिन्दगी को कायम रखने के लिए परमावश्यक है।

ऐच्छिक कर्म के बिना भी हम नहीं रह सकते। बिना इसके जीवन फीका है। 'पर एक ही व्यक्ति के लिए दोनो संभव नहीं है। कठोर परिश्रम के लिए कठोर और हल्के काम के लिए वैसे ही व्यक्ति की ज़रूरत होती है। यह स्वभावतः असंभव है कि एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग का काम कर सकें।' इन सुन्दर शब्दो मे इस दु:खद सत्य को छिपाकर श्रमजीवियों को श्रम और मानवता की महानता का उपदेश देना सर्वथा व्यर्थ है। ठीक है—'सुन्दर शब्दो से चुकन्दर पर मक्खन नही चढ़ता।'[1] पर हे मेरे श्रमजीवी बन्धुओ, आप तो उस मक्खन के आदी हो। कठोर परिश्रम, चाहे मानप्रद हो या नही, जीवन को शुष्क बना देता है। वह श्रमजीवी, जो दिनभर खाई से रेती ढोता है, विपरीत वायु मे रात भर रेल चलाता है, आँधी और पानी में कोयले से भरा जहाज़ चलाता है, अथवा भट्ठी पर रखे गर्म लोहे पर हथौड़े चलाता है, दिन या रात के अवसान पर "वही" मनुष्य नही रहता। आनन्द-सामग्री सज्जित, प्रशान्तकक्षासीन, ग्रन्थ-पठन रत, तितली-विभाजन-तत्पर, अथवा चित्रांकणसलग्न मानव की तरह वह मानव नही रहता। यदि उपर्युक्त दोनो कार्यो मे कठोर परिश्रम को मानप्रद कहने से आपको हर्ष होता हो तो मुझे आपसे उसे छीनने में जरूर दु:ख होता है। पर मैं इसकी पर्वा नही करता। कठोर परिश्रम पूर्णतः सीधा-सच्चा एवं साधारणतया (सदा नही) उपयोगी होता है। हल्का काम विशेषतः जड और झूठा पर कलापूर्ण होता है। उसके मानप्रद न होने का यही कारण है। पर दोनो प्रकार के कार्यों का सुचारु रूप से सम्पादन होने पर शारीरिक की उपेक्षा मानसिक कार्य अधिक मानप्रद माना जाता है। "पसीना बहाकर तुम कमाई करोगे"[2] इन शब्दो में कठोर परिश्रम

तीसरा विभाग

१—अंग्रेजी की एक कहावत। २—निम्नलिखित धर्माज्ञा देखो—

के अन्दर छिपा हुआ दुर्भाग्य झलक रहा है। हमारे ही कारण शापित पृथ्वी-तल भी उसके झाड-झंखाडों से उभलते समय हमारे पतन को ही प्रकट करता है। इसीलिए सब राष्ट्रों ने छुट्टी के दिन को पवित्र माना है और उसे 'पवित्र दिन' (Holyday or holiday) कह कर व्यवस्थित किया है। ब्रह्मपदलीन आत्माओं की यह सद्भावना कि 'श्रम से मुक्ति पाने पर, कार्य उनका अनुसरण करते हैं' हमारी मृत्यु के उपरान्त हमारी दूरस्थित आशाओं में सबसे अधिक प्रकाश फेंकती है।

निम्नांकित विषयोपर सदा विवाद चलता ही रहता है—'कठोर परिश्रम कौन करे ?' 'उसका कर्ता किस प्रकार सुखी और निश्चिन्त हो ?' 'उसे उचित पारिश्रमिक क्या मिलना चाहिए ?' 'कौन-कौन से खेलों की उसके लिए व्यवस्था हो ?' 'उसके इहलोक और परलोक किस प्रकार सुधरें ?' ठीक है, मेरे प्यारे श्रमजीवियो, इन प्रश्नो का ठीक ठीक उत्तर एक दम नही दिया जा सकता। फिर भी इनका उत्तर तो अवश्य ही देना पडेगा। सारे सद्विचारकों का ध्यान आज इसी ओर लगा हुआ है। इन विषयों पर काफी विचार हो चुका है फिर भी बहुत-कुछ खोज करने की आवश्यकता है। इस समय मै केवल कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तो की ही चर्चा करूँगा।

शारीरिक परिश्रम को आवश्यक न समझ कर हम उसमें बेबसी के कारण फँस जाते है। हमारे लिए कोई दूसरा चारा ही नहीं रहता। इसी कारण हमारा वह कार्य सुन्दर नहीं हो सकता। केवल दृढ इच्छा-प्रसूत कर्म ही सुन्दर हो सकता है। इच्छा सदा स्वभावानुकूल और कर्त्तव्यान्तर्गत कर्म को करने की ही होती है। बेमन किया गया कर्म

1-'In the sweat of thy face thou shalt eat bread." Genesis 3.19.

तो कोरी वेगार टालना होता है। प्रत्येक कर्म कुत्ते की तरह उतावली और वेढगे तरीके मे करने की अपेक्षा सुव्यवस्थित, सुचारु एव मानवीय और जायज़ (Lawful) ढग पर सम्पादित होना चाहिए। मनुष्यो को युद्ध में मार-काट के लिए भर्ती किया जाता है, उनकी गिनती होती है उन्हे शिक्षित किया जाता है, भोजन-वस्त्र दिया जाता है, और समय समयपर उनकी प्रशसा भी की जाती है। इसी प्रकार भरण-पोपण के कार्य के लिए भी मनुष्यों की ठीक ठीक भर्ती, गिनती, शिक्षा, अन्न-वस्त्र व्यवस्था और प्रशंसा होना परमावश्यक है। उनके लिए बन्दूक की तरह हल चलाने का शिक्षा का भी सुप्रबन्ध होना चाहिए। मृत्यु (विनाशकारी युद्ध) के वेडो के अफसरो की तरह जीवन (निर्माणकारी वस्तु) के वेडो के अफसरो को भी सज्जन समझना चाहिए। इसी वात की आज सख्त जरूरत है। इतना होने पर भी जब तक स्वामी और सेवक प्रत्येक अवस्था में परस्पर न्यायोचित व्यवहार करने की दृढ प्रतिज्ञा नही करते तवतक ये एव अन्य कई न्यायसंगत बातें ठीक-ठीक कार्य रूप में नहीं आ सकती। हर शख्स सदा सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रिय और लाभप्रद कार्य की तलाश मे घूमता रहता है पर वह कभी इस वात पर ध्यान नही देता कि न्यायोचित कर्म क्या है। प्रकृति का नियम तो यह है कि सर्वप्रथम न्यायोचित कर्म को समझो।

मृत्यु का वेडा वनाम जीवन का वेड़ा

न्यायोचित कर्मानुकूल व्यवहार करने पर ही सच्चे और सरल कर्म को जाना जा सकता है। ईश्वराज्ञा भी यही है—"न्याय पर चलो"[1]। यही सारे धर्मों का सार है। यह कोरी प्रार्थना या भजन नहीं है पर स्वयं 'परमात्मा की सेवा' (Service of God) है। आप को तो यही सिखाया

सम्पूर्ण धर्मों का सार

1—"Do Justice and Judgment." देखो—Genesis 18-19.

गया है कि सुख में भजन-भाव करो—इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए पूजा-पाठ करो। हम भी बाह्य प्रभाव के वशीभूत होकर इसी भजन-भाव और पूजा-पाठ को 'परमात्मा की सेवा' मान बैठे हैं। किसी वस्तु की जरूरत होने पर पुत्र पिता के पास दौड़ता है। क्या यह पितृ-सेवा है? क्या वह पुत्र खिलौने या रोटी की मांग को अपने पिता की सेवा कह कर पुकारता है? भजन-भाव और पूजा-पाठ का भी यही रहस्य है। परमात्मा भी अपने पुत्र की प्रार्थना को सुनना चाहता है। वह चाहता है कि जरूरत पड़ने पर उससे रोटी-कपड़ा मांगो पर उसे वह 'अपनी सेवा' (Serving Him) नहीं कहता। मांगना सेवा नहीं है। आप भिखारियों को नहीं चाहते। परमात्मा भी भिखारियों को नहीं चाहता। परमात्मा तो सच्चे सेवकों का प्रेमी है।[१] भावना से प्रेम, प्रेम से आनन्द और आनन्दातिरेक से गीतों की सृष्टि होती है। पुत्र अपने पिता को खूब प्यार करता है। इस प्यार में उसका हृदय आनन्द-विह्वल रहता है और इसी अवस्थामें वह अपने पिता की प्रशंसा में थोड़े-बहुत गीत भी गाने लगता है। पर इसे वह अपने पिता की सेवा नहीं कहता है। इसी दृष्टि से भजन-प्रार्थना आदि भी परमात्मा की सेवा नहीं कहे जा सकते। यदि उन्हें कुछ कहना ही है तो हम 'आत्मानन्द' कह सकते हैं। परमात्म-सेवा के बजाय वह आत्म-सेवा है। फिर भी भिक्षा और गिड़गिड़ाहट के इस रूप को हम परमात्मा की सेवा' (Divine Service)[२] कहने से बाज नहीं आते। पर अफ़सोस, जीवन के प्रत्येक इच्छित कर्म में 'परमात्म-

प्रभु की सेवा

१—यथा—'हम भक्तन के, भक्त हमारे।' —सूरदास

२—हर रविवार को ईसाई मतावलम्बी गिर्जों में जो प्रार्थना करते हैं उसे अँगरेजी में 'डिवाइन सर्विस' (परमात्मा की सेवा) कहा जाता है।

सेवा' की भावना के बिना यह कोरा ढोंग है। प्रथम त्यागमय दिव्य कर्म 'न्याय करना' है। पर न्याय की हमने सदा उपेक्षा की है। न्याय को छोड़ कर हम सब कुछ करने को तैयार हैं। हम प्रेम की दरिया बहा सकते हैं, पर न्याय के नाम पर हमारी नानी मर जाती है। 'न्यायकी अपेक्षा प्रेम के अधिक महत्व' के गीत गाकर आप मेरा विरोध कर सकते हैं। बिल्कुल ठीक—'प्रेम न्याय का सर्वोच्च शिखर है'—न्याय की नींव पर निर्मित मन्दिर है। पर जरा ग़ौर करो कि बिना नींव के मन्दिर कैसा। प्रेम नींव नहीं है—प्रेम की नींव पर कोई निर्माण नहीं हो सकता। न्याय ही आपके प्रेम-मन्दिर की नींव हो सकता है। प्रेम आरम्भ नहीं है—वह तो उत्तम कार्य का अन्तिम फल है। प्रत्येक प्राणी के साथ न्याय करो, (चाहे प्रेम करो या न करो पर न्याय तो कर सकते हो) फिर तो आप स्वयं ही उससे प्रेम करने लगोगे। यदि

बिना नींव का मन्दिर

यह सोच कर कि आप उसे प्रेम नहीं करते, उसके साथ अन्याय करोगे तो फल यह होगा कि उससे आप घृणा करने लगोगे। प्रेम को प्रारम्भ समझना कल्पना में मोहक पर व्यवहार में कठिन है। जो कुछ आपको करना है वह तो आप तक ही सीमित रहता है और वह है 'आत्म-प्रेम'। आप मन्दिर में जाते हो। बाल-बच्चों को भी खूब सजा-धजा कर अपने साथ ले जाते हो। उनकी खूबसूरती पर अपने-आप को निछावर करते हो। यह सब ठीक है—यह प्रेम है, प्रेम का प्रभात है, उसका घरेलू रूप है। एकाएक आप की आँखें सामने खड़े भंगी पर जाती हैं। वह भी फटे-पुराने चीथड़ों में लिपटा हुआ आपके सामने हाथ पसारे खड़ा है। उसके पल्ले में एक पैसा डाल कर आप फूले नहीं समाते हो। यह आप का प्रेम है—प्रेम की संध्या है—उसका सांसारिक रूप है। क्या न्याय की यही मांग

प्रेम फल है

है ? आज का हमारा न्याय तो बुरी तरह बेज़बान और खुले आम अन्धा है। बेकसी की दीर्घ मार से वह पीडित है। रजनी की गम्भीर छाया में आंखो की पट्टी को खोल कर सुप्रकाशित सुनहले चश्मे (आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण) को चढाकर बेचारा अपना हिसाब-किताब करता रहता है। उसकी आवाज बहुत धीमी है। अपने कानों को जरा उसके ओठो तक ले जाकर उसकी करुण कहानी सुनो। 'वह प्रारम्भ करता है—'अपने बाल-बच्चो के साथ उस दीन भंगी को भी वस्त्राभूषण-सज्जित क्यो नही करते ?' यह क्या ! आप के कान खडे हो गये और आप पूछ बैठते हो—'वस्त्राभूषण सज्जित होकर बच्चे झाड़ दे, उफ, यह भद्दी बात उसके दिमाग मे कैसे आई।' पर न्याय तो अपने उसी भद्दे और प्रमादपूर्ण तरीके पर जवाब देता है—'अरे भाई, अगर आपको यह बर्दाश्त नही है तो किसी दूसरे दिन अपने बच्चो के हाथ में झाड़ देकर उस दीन भंगी को वस्त्राभूषण से सज्जित कर अपने साथ मन्दिर ले जाना।' बस, आप अधिक नहीं सुन सकते और बडे तपाक से उत्तर देते हो—'हम उसे इसलिए नहीं ले जाते कि प्रत्येक प्राणी को अपने भाग्य पर सन्तोष करना चाहिए।' ठीक है, मेरे प्यारे दोस्तो, हमारी सारी समस्या का यही सार है। भाग्य ने उसे ऐसा बनाया है अथवा यह आपकी करतूतो का फल है ! स्वयं खाई में ढकेल कर आप उससे कहते हो कि वह अपने भाग्य पर सन्तोष करे !! यही आपका वर्तमान धर्म है !!! आप कह सकते हो कि आपने उन्हे खाई में नहीं ढकेला पर आपको क्या मालूम कि आपने क्या-क्या किया है अथवा कर रहे हो ? इसी को जानने की आज सख्त ज़रूरत है। जब तक लाभ (स्वार्थ) की चिन्ता छोड हम न्याय के प्रश्न पर गंभीर चिन्तन नही करेंगे तबतक इस रहस्य को हम नहीं समझ सकते। धर्म के नाम पर

वर्षों हम प्रार्थना का ढोंग रचते रहे पर यह सब बेकार है। न्याय का थोड़ा-बहुत व्यवहार भी वर्षों की झूठी भक्ति से लाख दर्जे अच्छा है। यही सच्चा धर्म है और इसी को धारण कर हमारे धार्मिक कहलाने का दावा सच्चा हो सकता है।

मान लो कि अब हमने शारीरिक परिश्रम कौन करे, इसका न्यायानुकूल निर्णय कर लिया फिर भी उनके पारिश्रमिक, दिलबहलाव और खेलों की व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न हमारे लिए विचारणीय रह जाते हैं। खेलों की व्यवस्था पारिश्रमिक पर निर्भर है और पारिश्रमिक का सवाल केवल मज़दूरों तक ही सीमित न होकर सारे कर्मजीवियों से सम्बन्ध रखता है। प्रायः यह देखा जाता है कि उत्तम एवं उपयोगी कार्य के लिए, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, बहुत थोड़ा पारिश्रमिक दिया जाता है। कभी कभी तो वह बिल्कुल ही नहीं दिया जाता। जन-साधारण की थैली का मुँह आनन्द-प्राप्ति के लिए अथवा ठगे जाने पर ही खुलता है। सेवा के लिए वह सदा बन्द रहती है। पॉर्लमेंट के प्रधान को ५०००० रुपया वार्षिक और हमारे रक्षक अन्नदाता एवं विचारक को १२ आने रोज़! यही आपका नियम है। कला, साहित्य और विज्ञान के सर्वोत्तम मानसिक परिश्रम की तो कोई पूछ ही नहीं है। आप ही बताओ कि होमर[1] को 'इलियड' और दान्ते[2] को

उपयोगी कार्यों का पारिश्रमिक

१—यूनान का महाकवि जिसने संसार-प्रसिद्ध 'इलियड' (Iliad) और ओडिसी (Odyssey) नामक महाकाव्यों की रचना की।

२—फ्रांस का महाकवि और डिवाइन कामेडी (Divina Commedia) नामक महाकाव्य का रचयिता। Paradise इसी ग्रन्थ का तृतीय भाग है।

'पेरेडाइज़' पर क्या मिला होगा?—जीवन का तीखापन और दर-दर की ठोकर! टेलिस्कोप-आविष्कारक व सर्वप्रथम ग्रह-अन्वेषक उस विज्ञान-शिरोमणि महापुरुष गैलीलियो को क्या मिला? कारागार! माइक्रास्कोप के अन्वेषक—ज़करिया जानसेन—को क्या मिला? देशनिकाला!—तड़प-तड़प कर मरने के लिए देशनिकाला!!! यह खुली बात है कि सत्कर्म, भाषण आदि मुफ़्त करने चाहिए। परमात्मा भी यही चाहता है। पर दुनिया के पालक (परमात्मा और पूँजीपति) के पारिश्रमिक-वितरण का शायद यही तरीका है। दुनिया की भलाई के लिए शारीरिक एवं मानसिक कर्म करने वाले सब सच्चे कर्मजीवियों का यही हाल है। वे कहते हैं—"जीवन-निर्वाह के लिए दाल-रोटी दो।" वह परमपिता जवाब देता है—"नहीं, मेरे बच्चो, दाल रोटी नहीं; यदि इच्छा है तो एक पत्थर ले लो—चाहे जितने ले लो, पर चुप रहो—ज़बान पर ताला डाल लो।" फिर भी श्रमजीवी हिम्मत नहीं हारते। पत्थर फोड़ने पर तैनात कर आप उनके साथ सबसे बदतर सलूक कर सकते हो, पर याद रहे वे पत्थर उन्हें नहीं फोड़ सकते। उनका भी भाग्य पलटेगा और उन्हें उचित पारिश्रमिक मिलेगा। वह दिन दूर नहीं है जब मछुए पीटर को पोप पीटर की अपेक्षा अधिक आमदनी होगी। कोई दिन आयगा कि हम कोरे पॉर्लमेंट के वक्ताओं के बजाय उसमें

ऐसा सदा न रहेगा

बाहर रहकर ठोस काम करने वाले कर्मयोगी को अधिक वेतन देंगे। वकीलों की अपेक्षा निर्धन किसानों को अधिक पारिश्रमिक देने की शीघ्र ही व्यवस्था होगी। यह हमारी पारिश्रमिक-वितरण की भावी प्रणाली का संक्षिप्त दिग्दर्शन है। भविष्य में इसका पूर्ण पालन होगा। आज ही से हमें प्रतिज्ञा-बद्ध होना चाहिए कि हम काम का ठीक-ठीक

पारिश्रमिक अवश्य देंगे। उस काम का करने वाला ही उसको पाने का सच्चा अधिकारी है। कोई भी ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा अब उसे हड़म नहीं कर सकता। इस कार्य के सुव्यवस्थित सुचारु संचालन के लिए शुद्ध सात्विक नायकों और उपनायकों को तैयार करने की सख्त जरूरत है। श्रमजीवियों को ठीक-ठीक आराम मिले, इस पर हमें काफी विचार करना होगा। उनके स्वतन्त्र दिलबहलाव के लिए हमें अवसर निर्धारित करने होंगे। उन अवसरों पर आयोजित खेलों का शुद्ध सात्विक रूप होगा। उनका आयोजन काग़ज़ी फूलों और गैस की रोशनी वाले बागों के बजाय, जहाँ आफत की मारी औरतें नाचती हों, उन सच्चे बागों में होगा जहाँ प्रकृति की हरी चादर बिछी होगी, सच्चे फूल फूल रहे होंगे, सूर्य अपनी प्रकाश किरणें बिखेर रहा होगा और शिशु समुदाय किल्लोल कर रहा होगा। तभी हर महल्ला—'गटर' नहीं—सुन्दर शिशुओं से भरा हुआ होगा, जहाँ वे आनन्द-विभोर यत्र-तत्र खेलते हुए नज़र आयँगे। उनके लिए सद्ग्रंथों से भरे पुस्त-कालयों की भी विशेष योजना करनी होगी। अवकाश के समय आराम के लिए सुन्दर बैठकों का प्रबन्ध करना पड़ेगा। प्यारे बन्धुओ, समय आने पर उनके लिए इन सारी बातों की ठीक ठीक व्यवस्था की जा सकेगी।

अब हमें अपने चौथे विभाग पर विचार करना है। इसका सम्बन्ध सर्वसाधारण से है। विवेक एवं अविवेकपूर्ण कर्म किसे कहते हैं? नित्य जीवन में सार्थक एवं निरर्थक बातों का क्या तात्पर्य है?—आदि प्रश्नों पर हमें गौर करना है।

विवेकपूर्ण कर्म मुख्यतः तीन प्रकार का होता है।

(१) सत्य वा ईमानदारी से पूरा

(२) उपयोगी, एवं

(२) आनन्दमय

(१) वह सत्य या ईमानदारी से पूर्ण है। खेल में हम सदा ईमानदारी का पल्ला पकड़ कर चलते हैं पर अफसोस कर्म में हम इस ओर ध्यान तक नहीं देते। खेलों मे हम ठीक-ठीक निर्णय के लिए निर्णायको की नियुक्ति करते है। बिना उनके हमारा काम नहीं चलता। कुश्ती में कपटपूर्ण वार न हो, घुड़दौड के आरम्भ में गल्ती न हो. इन सब बातों पर हम खूब ध्यान देते हैं। 'सत्य' और 'मिथ्या' ये दो परस्पर-विरोधी शब्द है। खेल मे पहला आपकी जबान पर रहता है और दूसरे से आप घृणा करते हो। पर कार्यपक्ष में आपका यह दृष्टिकोण हवा हो जाता है। कुश्ती का खिलाड़ी ईमानदारी की फिर भी इज्जत करता है और दर्शक समुदाय भी ईमानदारी की भावना से अनुप्राणित रहता है। कपटपूर्ण वार होते ही वे उसे तत्काल पराजित घोषित कर देते हैं। पर आपका व्यापारी खिलाड़ी तो बेईमानी से 'विक्री कर' अपनी मैच जीतता है। फिर भी उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। झूठे मोहरे रखने वाले जुआरी को आप जुयेघर से कान पकड़ कर बाहर निकाल देते हो पर डंडी मार कर व्यापार करने वाले व्यापारी को फलने-फूलने के लिए खुला छोड़ देते हो। याद रखो, बेईमानी का प्रत्येक व्यवहार डंडी मारने से कम नहीं है। यदि मैं तोल में कम, मिलावटी चीज़ अथवा रद्दी कपड़ा पाऊँ तो उससे आपको क्या मतलब? रद्दी कपड़ा देना तो बुरा है ही। खाद्य सामग्री का कम तोलना मुझे आर्थिक नुकसान पहुँचा सकता है पर यदि वह मिलावटी और दूषित होगी तो आप तत्काल मेरी लाश को अपनी आँखों के सामने पड़ी पाओगे। अतः हे कर्मजीवी व्यापारी बन्धुओ, आप अपने

सत्य और मिथ्या का जीवन

और हमारे प्रति (जो आपके सहायक है) वफादार बनो। यही आपका प्रधान कर्त्तव्य है। ईमानदारी के बिना न हम आपकी और न आप स्वयं अपनी सहायता कर सकते हो। ईमानदारी और सत्य को पाओ और समझो कि आपको सब-कुछ मिल गया। बिना ईमानदारी के आपके सारे मताधिकार, सुधार, व्यापार-स्वातन्त्र्य और बडे-बडे विज्ञान-मंदिर कोरे ढकोसले है। हार्दिक ऐक्य के बिना दिमागी ऐक्य का उपदेश देना मानो आसमान से तारे तोडना है। परस्पर कधे से कधा भिडाकर —दिल से दिल जोडकर ही अपना सारा व्यवहार करो फिर तो आज भी दुनिया आपकी हो सकती है।

(२) विवेकपूर्ण कार्य उपयोगी होता है। उपयोगी होने पर कार्य की कठिनता की हम पर्वाह नही करते। पर कठिन होने के साथ-साथ यदि वह फलहीन भी है—मधुमक्खियों का कार्य यदि कोरा मकडी का जाला है—तब तो यह अवस्था कर्मयोगी के लिए बडी निर्दयतापूर्ण है। हमारे या हमारी कौम के लिए हमारे कार्य का क्या महत्व है?—क्या यह प्रश्न हमारी आत्मा में कभी जगा है? हमें तो अपने सात्त्विक कार्यो को सुरक्षित रखना भी ठीक नहीं जान पडता। हम इस बात की पर्वाह तक नहीं करते कि हमारा हर काम शुद्ध एवं सात्त्विक हो जिससे दूसरे लोग तो कम से कम उसे सुरक्षित रखना ठीक समझे। हम इस बात की सबसे कम पर्वाह करते हैं कि कर्म अपने कर्त्ता के लिए हानिप्रद होने के बजाय उपयोगी हो जिससे वह घुल-घुल कर जान देने की अपेक्षा अपने जीवन का सदुपयोग कर सके। 'श्रम का अपव्यय' आपके सारे अपव्ययों में प्रधान है। मान लो कि आपके बच्चे के हाथ में दूध का एक गिलास है। सामने ही एक बिल्ली खडी है। उसको गोद मे लेने की लालसा से आपका बच्चा गिलास को ज़मीन

पर पटक देता है और आपकी आँखों के सामने दोनों मौज से क्रीड़ा करते हैं। आपका कलेजा बैठ जाता है। दूध ज़मीन पर और आपके सामने! आप बच्चे पर आँखें तरेरते हो और अन्दर ही अन्दर एक आह भर कर कहते हो—'हाय, सारा दूध व्यर्थ गया!', पर ज़रा गौर करो कि दूध से भरे काँच के पात्रों की अपेक्षा मानव-जीवन से लबालब भरे स्वर्ण-कलश आपकी आँखों के सामने मौजूद हैं। बिल्ली के बजाय शैतान उनसे क्रीडा करने के लिए खडा है। आप स्वयं खिलाडी-बच्चे हो। ईश्वर द्वारा जीवन के रस-स्रोत का ढक्कन खोलने के बजाय आप स्वय ही उन स्वर्ण-कलशो को पृथ्वी की छाती पर पटक कर शैतान के चाटने के लिए मानवीरक्त की धारा बहा आनन्द से क्रीडा करते हो! कहो—हृदय पर हाथ रख कर कहो—क्या यह अपव्यय नहीं है? उफ़, क्या आपकी निगाह में 'मानव के श्रम का अपव्यय' उसकी हत्या करना नहीं है!!! मुझे बताओ कि मानव के शरीर और आत्मा का इस तरह हनन करने से अधिक और किस तरह आप उनकी निर्मम हत्या कर सकते हो? दम घोटना हत्या करने का सबसे सरल तरीका है भूख, जाडे और सन-सनाती गोलियों ने—परस्पर सन्देशवाहिनी प्रेमदूतियों ने—कई प्राणियों को जीवन-मुक्ति का सुखद सन्देश सुनाया है। इस प्रकार लोग उनकी आयु क्षीण करते हैं पर, बन्धुओ, उन्हें नैतिक पतन के गहरे गड्ढे में तो नहीं ढकेलते। पर आप तो उन्हें नीच कर्म करने पर उतारू करते हो, उनके विचारो पर ताले डालते हो, उनकी आँखोंपर पट्टी बाँधते हो, उनकी आशाओं पर पानी फेरते हो, उनके शारीरिक विकास पर तुषारपात करते हो, उनकी आत्मा की धज्जियाँ उड़ाते हो, उनकी शक्ति का पूर्ण ह्रास कर उन्हें इस योग्य भी नहीं रखते कि वे अपने पतन से प्राप्त तुच्छ फल को

जीवन से पूर्ण कलश ढुलक रहा है

पाकर खुश हो पर उसे खुद ही चट कर जाते हो और—और अपनी स्वार्थ-पूर्ति होने पर उन्हे सदा के लिए मोटी मोटी दीवारो में धँसने के लिए छोडकर बेहयाई से कहते हो—यह अपव्यय नहीं है—पाप नही है !!।

(३) विवेकपूर्ण कार्य आनन्दमय है जैसा बच्चो का कार्य होता है। हम प्रतिदिन परमात्मा से प्रार्थना करते है—"हे प्रभो, यहाँ तेरा राज्य हो।"* परमात्मा की सौगध खानेवाले को हम नफ़रत की निगाह से देखते है। शपथ लेना परमात्मा के नाम को बदनाम करना है। यह अक्षम्य अपराध है। पर परमात्मा को बदनाम करने का एक उससे भी बदतर तरीका है—"परमात्मा से अनिच्छित वस्तु के लिए प्रार्थना करना।" परमात्मा को

हार्दिक संकल्प से रहित प्रार्थना

इस प्रार्थना से सख्त चिढ है। बिना इच्छा के कोई वस्तु मत माँगो। माँगने का यह भद्दा तरीका अपने स्वामी की हँसी उडाने का सबसे गंदा मज़ाक है। यदि आप उसके राज्य के इच्छुक नही है तो उसके लिए व्यर्थ क्यों प्रार्थना करते हो? यदि आप सचमुच उसका राज्य चाहते हो, तब तो कोरी प्रार्थना से काम नही चल सकता। उसके लिए आपको कर्म का मार्ग ग्रहण करना होगा। कर्म पथारूढ होने के पूर्व 'कर्म के रहस्य' को जानना जरूरी है। इसको जाने बिना ही हम आज तक कोरी प्रार्थना करते आये है। हमारा कार्य सिर्फ शाब्दिक जमा-खर्च के अतिरिक्त और कुछ नही रहा है। हमे यह बात याद रखनी चाहिए कि जो राज्य हमारे यहाँ आने वाला है वह रामराज्य है। उसके लिए हमे कही भटकने की जरूरत नहीं है। वह मुर्दों का राज्य नहीं है वरन् जीते-जागते प्राणियो का है। वह एक दम नही, धीरे-धीरे

* यह एवं आगे के अन्य पद समूह जो कि दो सीधे-उलटे विरामों के मध्य में रखे गये हैं, ईसाइयो के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल से अंशरूप में उद्धृत हैं।

आयगा। यह कोई नहीं जान सकता कि वह किस तरह आयगा। "परमात्मा का राज्य आते वक्त दिखाई नही देता।" वह कहीं आसमान से नही टपकेगा। वह तो हमारे हृदय-मंदिर में मौजूद है—"परमात्मा का राज्य हमारी अन्तरात्मा मे है।" वह हमारे हृदय-स्थित होने के कारण दर्शनीय की अपेक्षा संवेदनशील है। उसका आगमन सम्पूर्ण सद्गुणों के साथ होगा। "परमात्मा का राज्य राग-रंग नहीं है किन्तु शुद्धात्मास्थित सुख, शान्ति और साधुता है।" दूसरे शब्दो मे वह शुद्ध और स्वस्थ आत्मानन्द है। यदि इस राज्य को पाने की हमे सच्ची लगन है, और उसमे तन्मय होने के लिए हमारा दिल तड़प रहा है, तो सबसे पहले हमे यह शर्त माननी पड़ेगी कि हम 'शिशु की जिज्ञासा वृत्ति' धारण करें। बिना इसके हमारा सारा प्रयत्न कोरी मृगतृष्णा है। "जो शिशु-वृत्ति धारण कर उसकी प्राप्ति मे संलग्न नही है उसे कोई इच्छा ही नहीं करनी चाहिए।" वह खुद कहता है—"शिशुओ को मुझमें एकात्म्य होने के लिए छोड दो—उनके मार्ग मे रुकावट न डालो क्योंकि स्वर्ग का राज्य शिशु-वृत्ति-प्रधान प्राणियों का ही है।" इस प्रार्थना का अर्थ कही हमारी माताएँ यह न लगा ले कि स्वर्ग शिशुओ मे भरा होगा। यह धारणा निर्मूल है। शिशु वहाँ ज़रूर होंगे पर शिशु-

प्रभु की इच्छा

पति तो कोई वृद्ध-मस्तक ही होगा। 'बचपन मे कोई मरे' यह हमारे आर्शीवाद का रूप नही है। हमारे आर्शीवाद का रूप तो है—"जुग जुग जीओ, दीर्घायु बनो, और जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करो।" शिशु तो अपने पालकों के पाप के कारण मरते हैं। परमात्मा की इच्छा तो यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने जीवन में खूब आनन्द भोगे और स्वाभाविक मौत से मरे। अब हमारे लिए केवल एक प्रश्न रह जाता है—'क्या हमने शिशु-वृत्ति का

कभी अध्ययन किया है ?" शिशु की हमारे लिए सबसे अधिक स्पृहणीय वस्तु उसका 'चरित्र' है। सब-कुछ खोकर भी हमें इसे प्राप्त करना चाहिए। अब हमे यह देखना है कि किन-किन उपकरणो से उसका (चरित्र) निर्माण हुआ है।

सच्चे शिशु का प्रथम गुण है—'नम्रता'। कुलीन बालक स्वप्न में भी यह नही सोचता कि वह अपने पालको का गुरु है अथवा वह सर्वज्ञ है। प्रत्येक प्रौढ व्यक्ति के लिए उसके दिल मे यही ख्याल है। जिज्ञासा ही उसके ज्ञान का कोष है और वह सदा उस ज्ञानकोष को प्रश्नो की झडी लगा कर भरता है। दिन-रात ज्ञान-सम्पादन करना उसके दिल की प्यास है। इसी तरह हर भले, कर्मण्य और बुद्धिमान व्यक्ति का यही सबसे पहला गुण है। उसे चाहिए कि खुद को सदा अल्पज्ञ समझे क्योंकि संसार-सागर में उससे भी अधिक अनेक आबदार मोती मौजूद है। उसे जिज्ञासु-वृत्ति धारण कर दूसरो को सिखाने की अपेक्षा सदा उनसे सीखने की इच्छा रखनी चाहिए। दूसरो को सिखाने की भावना रखने वाला स्वयं कुछ नहीं सीख सकता; दूसरो पर अपना रोब ग़ालिब करने वाला अधिकार-लोलुप कभी अच्छा शासक नही बन सकता।

जिज्ञासा शिशु का ज्ञान-कोष है।

दूसरा गुण है—'आज्ञा-पालन'। वह अपने पिता मे पूर्ण विश्वास रखता है। उसे इस बात का ज्ञान है कि अपना पिता अपना सच्चा हितैषी और भलाई-बुराई को ठीक-ठीक समझने वाला है। कई बार पिता का विरोध कर भी वह इसी तथ्य पर पहुँचा है। इन भावो और अनुभव को लेकर वह अपने पिता के हाथ में अपने को सौंप देता है और उसकी आज्ञा पालन कर उसके इशारे पर चलता है। नायकाधीन सैनिक और आज्ञाकारी कार्यकर्त्ताओ की तरह हर भले आदर्शो का यह

सच्चा गुण है। अपने बड़ों पर पूर्ण विश्वास करो। अपने नायकों में सदा विश्वास रखो। उन नायकों को, जिन पर आपको पक्का विश्वास है, अपना जीवन-भार सौंपो। फिर आपको इस बात की स्वप्न में भी शंका न होगी कि आप पर अन्याय हो रहा है अथवा आपकी हँसी उड़ाई जा रही है। आप उन्हें अच्छी तरह पहचानते है और पूरी तरह उनके कहने पर चलते हैं। उनकी हुक्म-उदूली कभी नहीं करते हैं। बिना इस विश्वास के,—इस नायक-सैनिक सम्बन्ध के—मनुष्य न तो कोई बड़ा काम ही कर सकता है और न किसी भी काम में सर्वोच्च सफलता का अधिकारी हो सकता है। संसार के सारे राष्ट्र अपने नागरिकों के इसी विश्वास की नींव पर महत्ता को प्राप्त कर सकते है। इस विषय पर यहूदियों, युनानियों और मुसलमानों का इतिहास हमारे सामने साक्षी है।

आज्ञापालन और अनुशासन की वृत्ति

पूर्ण विश्वास के कारण ही अब्राहम[१] आज्ञाकारियों का पिता कहलाया। पूर्व में जो थोड़ा-बहुत राष्ट्रीय जागरण आज दिखाई दे रहा है उसकी सारी जड़ जगन्नियन्ता को सबका अधिपति और उसके द्वारा निश्चित नायक को आज्ञाकारियों का नेता मानने की भावना में विश्वास होने के कारण ही दृढ हुई थी। युनानियो में उस महान् कार्य की प्रशंसा, जो संसार के लिए निःस्वार्थ और उच्च सैनिकत्व का एक अलौकिक नमूना है, उसके लिए हँस-हँसकर अपने प्राणों की बलि चढ़ाने वाले उन सैनिकों की समाधि पर करुणतम शब्दों में इस प्रकार की गई है—"हे पथिक! जाओ और हमारे भाइयों से कहो कि उनकी आज्ञा का पालन कर ही हम यहाँ पड़े हुए है"।[२]

१—यहूदियों का आदि पुरुष।

२—करीब ४८० ई० पूर्व परशिया वालों ने यूनान पर धावा किया था।

तीसरा गुण है—'प्रेम'। बच्चे को प्रेम करो, वह आपको दुगुना प्रेम करेगा। सुसस्कृत बालक अपने निकट की सारी वस्तुओं से प्रेम करता है। किसी को पीडा पहुंचाना तो वह जानता ही नही। आवश्यकता पडने पर वह अपना सर्वस्व लुटा देता है। दूसरो की सहायता करने मे उसे आनन्द होता है। कुटिलता उसके पास फटकने नही पाती। वह अपने स्वार्थ के लिए षडयन्त्र नहीं रचता। वह ससार में हाथ फैलाता है—किसलिए?—अपने स्वार्थ के लिए?—नहीं; वह तो आत्म-समर्पण करना चाहता है, अपने को उपयोगी सिद्ध करने लिए छटपटाता है। क्या आप अपना ज़रा-सा हाथ बढा कर उसे प्रसन्न करने में भी असमर्थ हैं—उसे मंजिले-मकसूद तक पहुँचने में मदद देने से अपना हाथ खींचते है!

चौथा और आख़री गुण है—'प्रसन्नता'। वह पिता मे पूर्ण विश्वास कर सदा चिन्ता-मुक्त रहता है। खेल-कूद में अथवा कर्तव्य-पालन मे सब जगह सबके प्रति प्रेम-पूरित होने के कारण वह हमेशा हँसमुख रहता है। यही बडे से बडे कर्मयोगी का गुण है। भविष्य की चिन्ता उसे नहीं सताती। वर्तमान के कर्तव्य-पालन मे वह डटा रहता है। कल के भार को वह दूसरो पर छोड देता है। वह जानता ही नही कि दु:ख किस चिडिया का नाम है। केवल अपने काम की उसे पर्वाह है। उसके रहस्य को वह खूब जानता है। वह सदा खेलने मे संलग्न रहता है। उसका खेल

इस अवसर पर यूनान के चित्तोड़ थर्मापोली के इतिहास-प्रसिद्ध युद्धस्थल पर एक घमासान युद्ध हुआ था। इसमें जो स्पार्टा निवासी खेत रहे उनकी समाधि पर ग्रीक भाषा में उपर्युक्त अर्थ-बोधक पदसमूह अंकित है। अँगरेजी मे उसका अनुवाद इस प्रकार है—"Oh, stranger, go and tell our people that we are lying here, having obeyed their words."

सुन्दर है। वह प्रेम-पूर्ण मानवता का खेल खेलता है। मानवता का खेल प्रातःकालीन सूर्य की तरह सुन्दर है। देखो, आपकी सेवा के लिए सूर्य कितना उतावला हो रहा है! बलिष्ठ मानव की तरह समय पर वह अपना नित्य- कर्म करता है और सदा आनन्द-मग्न रहता है। देखो, उसकी प्रातः-क्रीड़ा को देखो—कुहरा उसके नीचे है, मेघ सिर पर मँडरा रहे हैं, एक ओर किरणें किल्लोल करती है, दूसरी ओर प्रकाश फैलता है और—और—चारों ओर मुक्ताओ (ओस) की वर्षा होती है!—यह सूर्य की क्रीडा है। मानवता का विशाल खेल भी उसकी क्रीडा के ही समान है। वह भी विभिन्नताओ से भरपूर, उल्लास और प्रकाश की आभा से परिपूर्ण ओस-कणो की तरह सुन्दर है।

मानवता का खेल

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिशु के चरित्र में निम्नलिखित चार गुण मुख्य है—

१—नम्रता,

२—आज्ञा-पालन,

३—प्रेम, एवं,

४—प्रसन्नता।

आप भी जीवन में इनकी जड जमाओ। आपका जीवन खिल उठेगा। क्रान्ति का पथ पकड कर शिशुत्व का बाना पहनो। आजकल सर्वत्र क्रान्ति की गूंज है। क्रान्ति का नाम ही सुनकर लोग चमक उठते है। उनकी निगाह में यह दुःख की जननी है। उनको भय है कि उसको अपनाने से उनकी मुख-मुद्रा फीकी पड जायगी। नहीं—नहीं, दोस्तो यह बात नहीं है। हमतो आपको 'कान्तिमान' बनाना चाहते है। हाँ, इसके लिए आपको शिशु बनना पडेगा। आज कोई ऐसा धर्म-संस्थान नहीं है

जहाँ आपको अपने पतन की लम्बी कहानी सुनने को न मिलती हो। पतन !—नैतिक पतन !!—घोर पतन !!! छोडो, फौरन पीछे लौट पडो। पीछे लौटने का यह रूप आपके लिए पूर्ण कल्याणकारी है। यदि आगे बढना मौत के मुँह मे जाना है तो पीछे लौटकर 'पालने' को अपनाओ। यही मेरा संदेश है। अपने रोग की सच्ची चिकित्सा और आत्म-शिक्षा का यथार्थ ज्ञान आपको शिशुत्व की शाला मे ही मिलेगा। शिशुत्व को अपनाओ—इसी मे आपका कल्याण है। सांसारिक लोगों के पीछे मत

शिशुत्व को अपनाओ !

चलो। उनकी सम्मति ज़हरीली है—उनका एक-एक शब्द विष की कडवी घूंट है। "उनके अधर-बिम्ब सर्प—विष से लबालब भरे हैं" परन्तु "दुधमुँहा बच्चा तो साँप के साथ खेलता है।[1] उन नराधमो की आँखो में मौत नाचती है। "उनकी आँखे अन्दर ही अन्दर दीन-दुःखी को हडपने में लगी हैं।" वे उस बदसूरत अजगर की तरह है जिसकी नज़र मौत का नज़ारा है पर "दूध पीता बच्चा तो अजगर की बाँबी मे हाथ डालता है।" उनके पद-पद में मौत छिपी है। "उनके पैर ख़ून बहाने में तेज़ है, शिकार-लोलुप सिंह की तरह उन्होने हमे अपने पंजे में जकड रखा है और युवासिंह सदा घात लगाये एकान्त में बैठा रहता है।" परन्तु शिशुत्व के साम्राज्य मे भेडिया और बकरी एक घाट पानी पीते है, पशु सिंह के साथ क्रीडा करता है और "शिशु उन सबका सम्राट है।" उनके विचारो में मौत सोई पडी है। उनके लिए दुनिया एक अद्भुत पहेली है, ज्यों-ज्यो वे उसे सुलझाते है उन्हे अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है। पर दुनिया के रहस्य को शिशु अच्छी तरह जानता है। अतः त्रिलोक

१—यह एवं आगे के अन्य पद-समूह जो कि वे उलटे-सीधे विरामों के मध्य रखे गये है ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल से अंश रूप में उद्धृत है।

के नाथ के प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि "उसने यह भेद बुद्धिमान और दूरदर्शी लोगों से .गुप्त रखकर केवल शिशुओं को ही बताया है।" हाँ—वहाँ भी—मानवो के शक्ति-सूचक राज्य और राजधानियों पर भी—मौत—अनन्त मौत—मँडरा रही है। पश्चिम से पूर्व जितनी दूर है,उस सारे व्यास में हमारे पाप फैलते ही जाते है। हममे पृथक् न होकर वे हमारे चारो ओर बढ रहे हैं। देखो, सामने देखो; वह सूर्य जो स्वयं अभी-अभी अपने नित्यकर्म में आनन्दमग्न हो रहा था, वही अब पश्चिमी अन्तरिक्ष में अस्तमान होता हुआ, बादलों से नहीं पर .खून से, कितना लाल हो गया है! वह लाली निरन्तर बढ़ती ही जायगी। पूर्वी या उत्तरी वर्षा का होना चाहे बन्द होजाय पर खून की वर्षा तो सदा होती ही रहेगी। उससे बचने के लिए आप किलेबन्दी करते हो—शस्त्रों से सज्जित होते हो पर आपका यह सारा प्रयत्न निष्फल है। जबतक आप यह नहीं समझते कि विकराल बंदूकों और तोपों के मुँह की अपेक्षा "शिशुओं के मुँह" से ही उस शक्ति का स्रोत फूटेगा जिससे "शत्रु और घातक शान्त होंगे" तबतक आपके ये शत्रु और घातक कभी आप पर अपना वार करने में नहीं चूकेंगे। *

---

* ता॰ २४ जनवरी सन् १८६५ को कैम्बरवेल के 'मजदूर संघ' में दिया भाषण।

: २ :

व्यापार

प्यारे दोस्तो,

आप एक व्यापार-गृह (एक्सचेंज) का निर्माण करने जा रहे है और मुझसे उसकी रूप-रेखा जानना चाहते है। पर अफसोस, मुझे आपकी आशाओं पर पानी फेरना होगा। मुझे इस सम्बन्ध का न कोई ज्ञान है और न इस विषय पर मैं अपनी ज़बान खोलना चाहता हूँ। आप चाहे बुरा माने पर मै तो अपने दिल की बात स्पष्ट कह देना चाहता हूँ। सुनिए,—आपके इस व्यापार-गृह को मै बडी हेय दृष्टि से देखता हूँ।

आपके इस व्यापार-गृह की मैं बिल्कुल पर्वाह नही करता क्योंकि आप स्वय उसकी कोई पर्वाह नही करते। सच्ची बात तो यही है और आप इसको अच्छी तरह जानते हैं। आप व्यापारी है और इस विषय की असली बातो का आपको पूरा-पूरा ज्ञान है। सभव है, मैं भूल कर रहा हूँ। पर आप खुद उनपर ग़ौर करें। आप क़रीब साढे चार लाख रुपया खर्चने जा रहे है। चन्दा करने पर आपके लिए यह कोई बडी बात नही हैं पर मेरे लिए तो नये कोट की खरीद आपके इस व्यापार-गृह की चिन्ता से अधिक चिन्ता का विषय है।

केवल कभी-कभी लोगो की कोरी सलाह लेकर सुन्दर स्थापत्य का निर्माण नही किया जा सकता। सम्पूर्ण भव्य स्थापत्य-कला राष्ट्रीय जीवन और चरित्र का द्योतक है। सौन्दर्य-प्रेम एव राष्ट्रीय रुचि की

चिरन्तन चेतना ही उसके निर्माण का आधार है। ज़रा 'रुचि' शब्द के गंभीर अर्थ पर विचार करो। "सुरुचि एक पूर्ण नैतिक गुण है"[१] मेरे इस कथन का सबसे अधिक विरोध हुआ है। मेरे अधिकांश विरोधियो की यह दलील है कि रुचि और नैतिकता दोनों अलग-अलग है। उनका कथन है—"हमारे सामने सौन्दर्य का बखान करो, इससे हमें हर्ष होगा, पर अपने धर्मोपदेश को हमसे दूर देखो।"

स्थापत्य कला राष्ट्रीय जीवन का द्योतक है

मेरे इस सिद्धांत का थोडा-सा विवेचन यहाँ आवश्यक है। रुचि केवल नैतिकता का अंश अथवा रूपमात्र ही नहीं है बल्कि वह नैतिकता ही है। किसी को जानने का प्रथम, अन्तिम और निकटतम परीक्षक प्रश्न है—"आप क्या चाहते हैं?" इसका उत्तर मिलते ही मै तत्काल जवाब दूँगा कि आप क्या है। बाज़ार मे किसी भी स्त्री-पुरुष से पूछो कि वह क्या चाहता है? उसका उत्तर मिलते ही समझ लो कि उसके दिल मे क्या है। "हे मेरे लडखडाते दीन दोस्त, तू क्या चाहता है?"—"हाँ—हाँ—एक चिलम तमाखू और अद्धी शराव।" ठीक है, मै तुझे अच्छी तरह जानता हूँ। "हे सुसज्जिता शीघ्रगामिनी वहिन, तू क्या चाहती है?" "झडा-झडाया घर, चूल्हा-चक्की, वर्तन-भांडे और-और पति-पुत्र की समीपता" अच्छी बात है, मैं तुझे भी खूब जानता हूँ। "अयि सुकेशी मृगनयनी बाले, तू क्या चाहती है?"—"प्यारा मिट्टू और वन-विहार;" और "हे नतचक्षु, गन्दे हाथो वाले बालक, तू क्या चाहता है?"—"चिडियो पर पत्थर-वर्षा और अंटा-गोली का खेल।" ठीक है, मैने सबको पहचान लिया, अधिक पूछना बेकार है।

आप क्या चाहते है?

1.—"Good taste is essentially a moral quality."

आप मेरी बात से इन्कार कर सकते हैं। आप कहेगे—"यह पूछने के बजाय कि वे क्या चाहते है हमे यह पूछना चाहिए कि वे क्या करते है। यदि वे अच्छा काम करते है तो उनकी कुरुचि से हमे क्या मतलब है और यदि उनके कर्म बुरे है तो उनकी सुरुचि हमारे किस काम की है? कर्म ही प्रधान है। यदि वह आदमी शराब नही पीता है तो उसके कोरे शराब-प्रेमी होने पर हमे क्यो चिन्ता करनी चाहिए और यदि वह बाला अपना पाठ ठीक-ठीक याद नही करती है और वह बालक बराबर पाठशाला जाता है तो हमें इस बात से क्या मतलब है कि वह मिट्ठू से प्रेम करती है और वह बालक चिड़ियों पर पत्थर फेंकता है।" ठीक है, किसी खास अर्थ मे थोडी देर के लिए इसे हम सत्य मान सकते हैं क्योकि यदि मनुष्य दृढतापूर्वक सत्यकर्म में प्रवृत्त हो तो कालान्तर मे वह उसे प्रेम करने लगेगा। पर इस प्रेम के उदय होनेपर ही वह सच्ची नैतिक अवस्था को प्राप्त कर सकेगा अन्यथा वह अपनी पतनोन्मुख दशा से छुटकारा नही पा सकता। अपनी प्यास को दृढतापूर्वक रोकने पर भी वह मनुष्य, जो सदा आलमारी में रखी शराब की बोतल की ओर ताक लगाये बैठा रहता है, कभी भी स्वस्थचित्त नही रह सकता। सच्ची शिक्षा सदा यही सिखाती है कि जनता कोरा सत्कर्म ही न करे पर साथ-साथ उसको करने मे आनन्द का अनुभव भी करे, केवल पसीना ही न बहावे पर उसे प्रेम की निगाह से देखे; ज्ञान-सम्पादन को ही सब-कुछ न मान बैठे वरं सच्चे दिल से उसमें लग जावे; सात्विकता की रटन के साथ-साथ उसकी हृदय से उपासना करे और न्याय-न्याय चिल्लाने की अपेक्षा न्याय के पीछे पागल हो।

सच्ची शिक्षा

आप सवाल कर सकते है कि "क्या चित्र, मूर्त्ति, फर्नीचर अथवा स्थापत्य आदि बाह्यालंकारो का प्रेम नैतिक गुण है?" हाँ, यदि आपकी रुचि

सुसंस्कृत है तो अवश्य ही एक नैतिक गुण है। प्रत्येक चित्र या मूर्ति पर लट्टू होना नैतिक गुण कभी नही कहा जा सकता। पर 'सुन्दर' वस्तु के लिए यह बात लागू नही होती। 'सुन्दर' शब्द की यहाँ व्याख्या करना आवश्यक है। 'सुन्दर' से मेरा मतलब कलापूर्ण, बुद्धिप्रधान अथवा श्रमप्राप्त वस्तु से नही है। टेनेयर्स[1] का वह चित्र लो जिसमे शराबी मोहरों पर झगड रहे है। यह एक पूर्ण कलात्मक चित्र है। इसमें से कला इतनी फूटी पडती है कि इसके समान आजतक कोई दूसरा चित्र नही बना। फिर भी यह एक निम्न कुरुचि प्रधान चित्र है। यह चित्र एक गन्दे विषय पर दीर्घ चिन्तन-जनित उल्लास का बाह्य प्रकटन है और यह उल्लास 'असंस्कृत' अथवा अनैतिक गुण है। गंभीर अर्थ में इसे 'कुरुचि' कहा जा सकता है। यह आसुरी रुचि है। दूसरी ओर यूनानी मूर्तियाँ एवं मुद्राएँ, टिटियन[2] के चित्र और टरनर[3] के प्राकृतिक दृश्यों के चित्र है जिनमें पूर्णत. सुन्दर वस्तु के निरन्तर चिन्तनोत्पन्न उल्लास की अभिव्यक्ति है। यह एक नैतिक गुण है। यह दैवी रुचि है। कलाजनित आनन्द और प्रेम ये दोनो प्रेम-योग्य पदार्थ के प्रति स्वाभाविक प्रेम में परिणत हो जाते हैं। यही योग्यता वह गुण है जिसे हम 'सुन्दरता' कहते है। (इसी प्रकार 'घृणायोग्य' पदार्थ के लिए हमारे पास 'घृणा' सम्बोधन है।) 'हम इस वस्तु को चाहते है या उसको' यह बात

१—यह एंटवर्प (यूरोप) का सुप्रसिद्ध और महान् चित्रकार था। इसने अपने चित्रों में ग्रामीण जीवन के हर पहलू पर स्वाभाविक चित्रण किया है। इसका समय सन् १६१०-१६६० है।

२—यह वेनिस का महान् चित्रकार था।

३—यह इंगलैंड का सुप्रसिद्ध चित्रकार था जिसके प्राकृतिक दृश्यों के चित्र संसार-प्रसिद्ध है।

हमारे लिए गौण अथवा उपेक्षणीय नहीं है। यह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। हमारी रुचि हमारे जीवन की परख है, हमारे मनुष्यत्व की पहचान है। दूसरे शब्दों में रुचि-परिमार्जन की शिक्षा देना ही चरित्र-निर्माण करना है। मेरे देखने में एक पुस्तक आई है

रुचि जीवन की परख है

जिसका नाम है—'विभिन्न जातियों मे रुचि-वितरण की आवश्यकता।'[1] इसके लेखक से मैं पूछना चाहता हूँ—"मित्र, यदि तुमने अपनी रुचि वितरण कर दी तो तुम्हारी जातियों का अस्तित्व ही कहाँ रहा? मेरी राय मे तो तुम्हारे समान रुचि रखनेवाला पुरुष तुम्हारी जाति का ही अंग है। यह निर्विवाद सत्य है। यदि तुम चाहो तो उसे दूसरा काम सौंप सकते हो पर अपनी वर्तमान अवस्था में तो वह तुम्हारी ही तरह दूसरे कामो से घृणा करेगा। किसी भगी या कुँजडे को लो जिसका साहित्य-ज्ञान तोता-मैना के किस्सों और संगीत-प्रेम 'बाज़ारू-गीतों' तक ही सीमित है। क्या तुम इन्हें दाँते[2] और बीथोवेन[3] बना सकते हो? मैं भी यही चाहता हूँ। यदि तुम सफल हो गये तो सचमुच तुमने उसे आदमी बना दिया। वह अपने धन्धे से तत्काल मुँह फेर लेगा।"

किसी भी बुराई अथवा कमज़ोरी की अभिव्यक्ति के दो मार्ग हैं। चाहे तो वह'कला'—द्वारा प्रकट होगी अथवा उसके दर्शन हमें 'बिना कला'

१—'आन दि. नेसेसटी ऑव दि डिफ्यूजन ऑव टेस्ट अमंग आल क्लासेस' लेखक विल्किसन।

२—इटली का महाकवि और 'डिवाइनाकमेडिया' नामक महाकाव्य का प्रणेता।

३—संसार का तानसेन। यह बोन (Bonn) नामक स्थान में पैदा हुआ था और उम्रभर वियेना में रहा। यह सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ और गायक था। पियानो बजाने में इसके समान आजतक कोई नहीं हुआ।

के होंगे। यह ध्रुव सत्य है। इस प्रकार प्रकट हुई उस बुराई अथवा कमज़ोरी का प्रभाव हर राष्ट्र पर अवश्य पड़ेगा। उस प्रभाव से वह अछूता नहीं रह सकता। इसी तरह कोई छोटा या मोटा राष्ट्रीय गुण भी ऐसा नही है जो उस राष्ट्र के कलाकारो द्वारा निर्मित सम्पूर्ण कला में अभिव्यक्त न हुआ हो। आप अपने ही साहस और कष्ट-सहिष्णुता के राष्ट्रीय गुण को लीजिए! आपका सारा देश आज 'लोहे के काम' में दक्ष है। इस समय यही उसकी एक फलदायक कला है। लोहे के ढालने और गढ़ने में आप परम प्रवीण है। पर क्या आपने कभी यह सोचा है कि बडी-बडी भट्टियो के मुँह पर कूटने के लिए एकत्र ज्वालामुखी की तरह फैले हुए ढेर के ढेर पाटों पर आपका साहस और धैर्य सदा के लिए अंकित रहेगा?—लोहे की कलम से ही नहीं वरन् लोहे के स्थूल पाटों पर भी? साथ-साथ अब आप अपने, सारे युरोप के, नही—नही अखिल ब्रह्मांड के एवं सौर जगत् के सम्पूर्ण लोकों के, नारकीय वायुमंडल पैदा करनेवाले 'ईर्ष्या-द्वेष' रूपी उस महान् दुर्गुण पर भी ज़रा विचार करो जिसने व्यापार में प्रतिस्पर्धा, कौंसिलो में कपट, और युद्ध में अपमान की अग्नि को धधकाया है। यह वह भयंकर दुर्गुण है जिसने बिना सीने पर जिरह-बख्तर पहने और म्यान मे तलवार ढीली किये आज आपके और आपके पडोसी राष्ट्रों के दैनिक जीवन-कार्य को असम्भव बना डाला है। इस प्रकार आपने संसार की सभ्यता और संस्कृति के सूत्रधार इन राष्ट्रों के लाखों-करोडो प्राणियों के लिए परस्पर-व्यवहार में ऐसी भीषण कटुता पैदा कर दी है कि जिसका आभास केवल उन वर्बर और जंगली जातियों में पाया जाता था जिनके लिए कहा गया है कि 'वे लोहे के दस्तानों को पहने खाना खाते थे और कंटोपों में ढाल-ढाल कर सुरापान करते थे।'[1] क्या

१—अंग्रेजी कवि स्काट ने अपने काव्य 'ले ऑव दि लास्ट मिन्स्ट्रेल'

आपका यह ख्याल है कि यह राष्ट्रीय बेशर्मी और दिली नामर्दी उनके निर्माण-कर्त्ताओ के हस्त-कौशल के साथ-साथ आपके जिरह बख्तर की कील की प्रत्येक नोक पर साफ-साफ शब्दो मे अंकित नही है ?

यह बात अधिक शर्मनाक है या दुःखदायी, यह मै नही कह सकता। ठीक-ठीक देखा जाय तो यह दोनो ही है। एक उदाहरण लीजिए। कोई मनुष्य नगर के बाहर एक छोटा-सा बँगला बनाकर रहता है। यह नगर का एक एकान्त छोर है। इसके बिल्कुल पास दूसरे आदमी का भी बँगला है। दोनो के बँगलो में सुन्दर बाग लगे हुए हैं जो केवल एक दीवार के बीच में होने के कारण पृथक् हैं। पहला आदमी मुझे अपनी बैठक सजाने के लिए बुलाता है। चारो ओर दीवारे खाली पडी हैं। कोई सजावट नही है। मै अपने मित्र से कहता हूँ कि फलाँ जगह पर रंगीन कागज की ज़रूरत है, छतपर सुन्दर कलापूर्ण नक्काशी होनी चाहिए, खिडकियो पर रंगीन बूटेदार परदे आवश्यक हैं आदि-आदि। वह तत्काल कह उठता है,—"हैं, बूटेदार परदे, सुन्दर नक्काशी, रंगीन कागज़ ! सचमुच, यह सब ठीक है। पर माफ करें, इस समय इन फालतू बातों के लिए मेरे पास कोई गुंजाइश नही है।" मै जवाब देता हूँ—"यह क्या ? दुनिया तो तुम्हारी आमदनी के बारे में बडी-बडी बाते करती है।" वह कहता है—"हाँ, बात तो बिल्कुल ठीक है, पर क्या तुम्हे यह पता नही है कि आजकल मै अपनी सारी आमदनी विशाल लौह-पिजरो के निर्माण में व्यय करता हूँ।" "ओह !—लौह-पिजर !—किसके लिए ?"—"वाह—तुम्हे नहीं मालूम ? ये सब मेरे बाजू में रहनेवाले मेरे पडोसी के लिए है। किसी समय हम दोनो अभिन्न मित्र थे—दो शरीर, एक प्राण। फिर भी दीवार के

मै इंगलैंड और स्काटलैंड की सीमा पर रहने वाली जातियों के सम्बन्ध में ये पक्तिया लिखी है।

दोनों बाजू हमारे लिए लौह-पिंजर रखना आवश्यक है। बिना इन लौह-पिंजरों और तोप-गोलों के हमारी मित्रता का कायम रहना असम्भव है। सबसे बुरी बात यह है कि हम दोनों ही अपने फ़न मे उस्ताद हैं। कोई दिन नहीं जाता कि हम नये-नये ढंग के पिंजरे, तोप-गोले आदि का आविष्कार न करते हो। हर साल करोडो-अरबों रुपया हमारा इसी मद मे खर्च होता है। आश्चर्य यह है कि हम इसमे ज़रा भी कमी-बेशी नहीं कर सकते।"

हिंसात्मक प्रतिस्पर्द्धा

दो स्वतन्त्र प्राणियो के जीवन की यह अत्यन्त हास्योत्पादक दशा है! पर मेरा विश्वास है कि दो स्वतन्त्र राष्ट्रो के लिए शायद यह बिल्कुल हास्योत्पादक नही है। केवल एकही पागल होने से किसी भी पागलखाने की हँसी उडाई जा सकती है और एक ही हँसोड आप के प्रहसन मे हँसी की धार बहा सकता है, पर यदि सारा संसार मसखरों का अड्डा हो जाय और वह रंग के बजाय अपने दिल के खून का लाल रंग चढा कर स्टेज पर आये तो, मै सोचता हूँ, इसे कदाचित् हास्योत्पादक न कह कर और ही कुछ कहा जायगा।

अधिकांश में यह सब खेल-रूप में है और इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। रोंगटे खडे होने पर कर्त्तव्य का भान नहीं रहता। पर कोरे शिकार और क्रिकेट की बदौलत आप इस असह्य दीर्घ मानव-जीवन को पार नहीं कर सकते। विद्यार्थी-जीवन में खिलौने वाली बन्दूक आप को प्रिय थी पर यह न भूलो कि आज की आप की सच्ची बन्दूक उसी का सुधरा हुआ रूप है। सबमे निकृष्ट बात तो यह है कि बाल्यावस्था में आप जिसको खेल समझते थे वह उन मासूम चिड़ियों के लिए खेल नहीं था। इसी तरह आज आप जिसको खेल समझते हैं वह उन

यह कैसा भयानक खेल है?

छोटे-छोटे राज्य रूपी पक्षियों के लिए खेल नहीं है और यदि मै भूलता नही तो दुर्जय गरुडो से लोहा लेना आप के लिए जरा टेढी खीर है।

मै विषय के बाहर ज़रूर चला गया हूँ, पर, विश्वास करो, कि और अधिक उदाहरण दिये बिना ही मै आप को यह ठीक-ठीक बतला सकता हूँ कि प्रत्येक राष्ट्र के गुणावगुण सदा उसकी कला में अंकित रहते हैं। आदि युनान[1] की वीरता, कल के इटली[1] की कामुकता, टस्कनी[1] के कल्पित, धर्म और वेनिस[1] के उत्कट पौरुष एव सौन्दर्य आदि पर विचार करने का आज मेरे पास समय नही है। पर मूल सिद्धान्त तो एक ही है। उसका प्रयोग हम पर किस तरह किया जा सकता है इसकी गंभीर जॉच करना ज़रूरी है।

आज आप की बनाई नई इमारतो मे मिलो और महलो के साथ-साथ प्रार्थना-मदिर और पाठशालाएँ भी काफी तादाद में दिखाई देती है। आपने इन प्रार्थना-मंदिरों और पाठशालाओं में तो उसी प्राचीन गौथिक कला[2] को कायम रखा है पर मिलो और महलो का पूरी तरह नवीन ढग पर निर्माण किया है। इस विभिन्नता का क्या रहस्य है? अवश्य ही यह इस युग की विशिष्ट सूझ है। गोथिक कला के आविर्भाव के समय इमारतें और प्रार्थना-मदिर दोनो उसी कला में ढाले जाते थे। तत्पश्चात् जब गोथिक के स्थान पर इटेलियन कला का प्रभुत्व हुआ तब सारी इमारतो और प्रार्थना-मदिरो का निर्माण इटेलियन में ही

१—युरोप के प्रसिद्ध प्राचीन सभ्यता-केन्द्र।

२—गोथ (Goth) लोगों की कला, जिसमें इमारतों में नुकीली महराब की बनावट रहती है। ये लोग सबसे पहले बाल्टिक के दक्षिण किनारों पर बसते थे और बाद में इन्होंने इटली, दक्षिण फ्रान्स और स्पेन के राज्यों की नींव डाली।

प्रारम्भ हुआ। यदि एंटवर्प के गिरजे की गुम्बज गोथिक ढंग की है तो ब्रुसेल्स का 'हॉटेल डे विले' (Hotel de Ville) का घंटाघर भी गोथिक कला का ही नमूना है। यदि इनिगो जोन्स[1] ने इटेलियन 'व्हॉइट हॉल'[2] का निर्माण किया है तो सर क्रिस्टोफर रेन[1] ने भी इटेलियन सेंट पॉल को बनाया है। पर आज की दुनिया दुरंगी है। आज हम रहते स्थापत्य कला के एक स्कूल के नीचे हैं और उपासना दूसरी के नीचे करते है। इस सबका क्या रहस्य है? क्या आप गोथिक कला को फिर से अपनाना चाहते है और आपने इस बात की आज़माइश का शिकार गिरजे को शायद इसलिए बनाया है कि उसके निर्माण में यदि कोई भूल भी रहजाय तो आप को उसकी पर्वाह नही है, अथवा

धर्म से पृथक जीवन

इसका यह अर्थ है कि गोथिक को आप भवन-निर्माण का पवित्र और सुन्दर नमूना मानते है और सुन्दर सुगंधित सनोवर की सुगन्ध की तरह उसे केवल उपासना मंदिर के ही उपयुक्त समझ कर धार्मिक प्रार्थनाओं के लिए पृथक रख छोड़ना चाहते है? यदि आप की यह भावना है तो इससे साफ जाहिर होता है कि आप का जीवन धर्म से पृथक हो गया है।

यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह बात केवल आप पर ही लागू नही होती है। आज तो आप का सारा समाज ही इसका शिकार है। गिरजो को 'ईश्वर का मन्दिर' कहकर पुकारने की आप सबकी आदत पड गई है। कई गिरजो पर मैंने अपनी आँखो यह लिखा देखा है— "यह ईश्वर का घर है एवं यही स्वर्ग का द्वार है।" इस सूक्ति के

१—इगलैंड के सुप्रसिद्ध शिल्प-शास्त्री।

२—लंदन में पॉर्लमेंट-स्ट्रीट स्थित स्थित सुप्रसिद्ध शाही महल जो आज तक अधूरा है।

इतिहास पर ज़रा गौर करो। एक युवक अपने मामा के यहाँ जाने के लिए घर से निकल पडता है। पैदल ही वह एक लम्बे रेगिस्तान के पार करता है। दो-तीन दिन बाद वह एक बीहड वन प्रान्त में प्रवेश करता है। यह एक पथरीला दलदल है। वह थककर वहाँ ठहर जाता है। वह कुछ पत्थरो को इकट्ठा कर उनका तकिया बनाता है और एक पहाडी टीले पर सोजाता है। उसे स्वप्न में ज़मीन पर एक सीढी दिखाई देती है जिसका ऊपरी छोर स्वर्ग को चूम रहा है। देवदूत उस पर चढते-उतरते है। एकाएक उसकी आँख खुलती है और वह चिल्ला उठता है—"कितना भयानक है यह स्थान! सचमुच यह ईश्वर का घर है—स्वर्ग का द्वार है।" यहाँ हमें 'स्थान' शब्द पर ध्यान देना है। वह 'यह स्थान' इन शब्दो को कहता है न कि यह गिरजा, अथवा यह नगर अथवा यह (तकिये का) पत्थर जिसे वह स्मृति-स्तम्भ कहकर सम्बोधन करता है। 'यह स्थान', अर्थात् यही निविड वन-प्रान्त, यही निर्झर-संगीत-ध्वनित हिमाच्छादित दलदल; "यह" अर्थात् ऐसी कोई भी जगह जहाँ ईश्वर के द्वारा स्वर्ग की सीढी रखी है। पर आप कैसे जान सकते है कि वह कहाँ रखी है?—अथवा बिना उसकी प्राप्ति की इच्छा के आप उसे कैसे जान सकते हैं? क्या आप यह बता सकते हैं कि कल बिजली कहाँ गिरेगी? कुछ अंश में आप इस भेद को जान सकते हैं। बिजली का आप पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं पर अवतार के समय यह असम्भव है क्योंकि वह पथ उस बिजली की तरह है जो पलभर में पूर्व से पश्चिम तक चमक उठती है।

कोरा धार्मिक उल्लू सीधा करने के लिए इन गंभीरतम शब्दो ('ईश्वर का घर') को प्रयोग में लाने की यह नित्य की ख़ब्त से भरी लहर घोर रूढि-प्रियता में लहराने के हजारो उदाहरणो में से केवल एक

का दिग्दर्शन-मात्र कराती है। हम अपने गिरजों को मन्दिर कह कर पुकारते है पर वे मन्दिर किसी हालत में नहीं हैं। मन्दिर से सम्बन्ध रखने वाली कोई बात न उनमें कभी थी और न कभी हो सकती है। उन्हे हम 'यहूदियों के मन्दिर' (Synagogues) अवश्य कह सकते हैं जिसका अर्थ है "एकत्र होने के स्थान" अर्थात् सभा-भवन और उन्हें इस प्रकार सम्बोधन न कर हम एक महान् धर्मसूत्र के प्रभाव को खो बैठते है। वह सूत्र है—"प्रार्थना के समय पाखण्डियों की तरह व्यवहार न करो, क्योंकि वे खडे-खडे प्रार्थना करना पसन्द करते है (गिरजे में !) जिससे लोगों की निगाह उनपर पडे; पर आपको चाहिए कि एकान्त कोठरी में दरवाजे बन्द कर अपने प्रभु का चिन्तन करो।"

गिरजो की निन्दा का आरोप लगाकर आप मुझपर नाराज़ हो सकते हो। पर बात यह नही है। यह सब कहकर तो मैं आपके घरों और पर्वतो के सम्मान का बखान कर रहा हूँ। 'गिरजों' को अपवित्र बतलाना मेरा उद्देश्य नही है। मेरा तो मकसद केवल आपके दिल में यह बिठाना है कि आज की हमारी सारी विचार-प्रणाली कितनी भद्दी, छुई-मुई की तरह नित्य उडनेवाली और कितनी दोष-पूर्ण है जो हमें सिखाती हैं कि गिरजे ही केवल 'पवित्र' है और घर-बार, चूल्हे-चक्की आदि सब 'अपवित्र' हैं। यही कारण है कि आज आपने अपने गृहदेवताओं को निर्वासित कर 'बुतपरस्तों' से भी अपने-आपको पृथक् कर रखा है। फिर भी अफसोस तो इस बात का है कि असंख्य बलहीन देवताओं के स्थान पर आजतक भी आपने अपने एक 'अद्वैत' परमात्मा की न तो प्रतिष्ठा ही की है और न कभी उसकी सर्वव्यापकता को महसूस ही किया है।

आप सवाल उठा सकते हैं कि इस लम्बी रामकहानी का आपके इस व्यापार-गृह से क्या सम्बन्ध है। प्यारे दोस्तो, इसका आपके इस

व्यापार-गृह से पूरा-पूरा सम्बन्ध है। उपर्युक्त आंतरिक और गंभीर प्रश्नों पर ही सारे बाह्य और छोटे-छोटे प्रश्न आश्रित हैं। आज तक जो कुछ स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में मैंने लिखा है उसमें भी मैंने यही बतलाने की चेष्टा की है। मेरे 'सप्त दीप' (The Seven Lamps of Architecture) नामक ग्रन्थ का उद्देश्य भी यही दिखाना है कि स्वभाव और नैतिक भावना की विशिष्ट शुभ दशाएँ ही वे जादूभरी शक्तियाँ हैं जिनसे सम्पूर्ण सुन्दर और भव्य स्थापत्यकला के नमूनों का निर्माण हुआ है। 'वेनिस के पत्थर' (The Stones of Venice) नामक पुस्तक भी आदि से अन्त तक इसी उद्देश्य को निर्दिष्ट करती है कि वेनिस की गोथिक कला का उद्भव और उसका सर्वांग प्रदर्शन केवल शुद्ध राष्ट्रीय श्रद्धा एवं घरेलू गुणों की विशिष्ट दशा में हुआ है और जागृतिकाल (रिनैसाँ) की कला अपने सब अंगो सहित सुप्त राष्ट्रीय धर्महीनता एवं घरेलू बिगाड की अवस्था में उद्भूत हुई है और अब आप मुझसे पूछते हैं कि भवन निर्माण का कौन सा रूप सर्वोत्तम है? स्थापत्य के उपर्युक्त दोनो रूपों को दृष्टि में रखते हुए आपके सवाल का जवाब भी मैं केवल एक प्रश्न के रूप में ही रक्खूँगा। वह प्रश्न है—क्या आप सच्चे धर्मपालक होकर अपने इस व्यापार-गृह का निर्माण करना चाहते हैं? दिल पर हाथ रखकर साफ़-साफ़ कहो—दोनो में से कौन-सी बात आपको पसन्द है? इन प्रश्नो का आपके व्यापार-गृह से कई गुणा अधिक महत्व है। इसका अविलम्ब उत्तर आपके इस व्यापार-गृह के मसले को तत्काल हल कर देगा। इन पर अधिक प्रकाश डालने के पूर्व एक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है।

धर्म के साथ या उसके विपरीत ?

मेरे सारे पूर्व ग्रन्थो में केवल एक ही सिद्धान्त की चर्चा की गई है।

वह सिद्धान्त है—'सुन्दर स्थापत्यकला मुख्यतः धार्मिक होती है। अधर्मी और असभ्य जनता के बजाय श्रद्धालु एवं गुणी जनता द्वारा ही उसका निर्माण होता है।' इस सिलसिले में मैंने यह भी बतलाया है कि सुन्दर स्थापत्य-कला पोप-पन्थ की सृष्टि नहीं है। जनता धर्म को पुरोहितों का धन्धा समझने की आदी हो गई है। वह उसे अपना नही समझती। धर्म-चर्चा होते ही हम पुरोहितों की ओर झाँकने लगते हैं। आपका यह विश्वास है कि सुन्दर स्थापत्य-कला जन साधारण के बजाय पुरोहितों के कार्य का फल है। नहीं, हज़ार बार नही, वह तो सदा से जन-साधारण के कार्य का फल रही है। आप पूछ सकते हैं—क्या उन भव्य एवं विशाल गिरजो के—जिनपर युरोप को नाज़ है— निर्माणकर्त्ताओं ने गोथिक कला को प्रसूत नही किया? कदापि नही; उन्होंने तो गोथिक कला को दूपित ही किया है। गोथिक तो केवल सरदारो के किलों और रईसों के मोहल्लो में ही पनपी है। वह तो स्वतन्त्र नागरिकों एव वीर सरदारों की शक्ति, विवेक और हाथ की उपज है। पुरोहितो ने तो केवल उसे अपने मिथ्या-धर्म के प्रसार का साधन ही बनाया और जब वह मिथ्या-धर्म उन्मत्त पागलपन में पलट गया, युरोप के बडों को मठों में सपना लेने की थोथी धुन सवार हुई और—और—जब उन्होंने धर्म-युद्धों (Crusades) में पड़कर अपने-आपको खपा दिया, तभी उसी थोथे विश्वास और विनाशकारी युद्ध के अंधड़ में पडकर गोथिक का सौन्दर्य भी खूब लहराया, खूब खिला, मिथ्या सपनों में खूब शेखचिल्ली बना और अन्त में उन मीठे सपनो में सदा के लिए अपने आस्तित्व को भी खो बैठा !!!

मेरे इस कथन का कि 'प्रत्येक राष्ट्रीय महती स्थापत्य-कला महान् राष्ट्र-धर्म का परिणाम एवं उसकी व्याख्या है'—तात्पर्य अब आप ठीक-ठीक समझ गये होंगे। उसे आप बिगड़ी हुई कभी नही पा सकते। चाहे

तो वह आपको अविच्छन्न मिलेगी अथवा बिल्कुल अस्तित्वहीन ! न तो वह पुरोहितो के गिरोह का एकाधिकार है, न धर्मान्धता की व्याख्या है और न पूर्वकालीन पुरोहिताधिपत्य का सांकेतिक लेखा ही है। वह तो दृढ़ और सम-भावना-प्रेरित जनता की जीवित भाषा है—परमपिता परमात्मा के अटल नियमो में सार्वभौम श्रद्धा का सौन्दर्य है।

सार्वभौम श्रद्धा का सौन्दर्य

आजतक युरोपीय स्थापत्य-कला के भिन्न-भिन्न तीन स्कूल प्रख्यात थे। 'युरोपीय' से मेरा केवल यही मतलब है कि एशिया एवं अफ्रीका महाखंड की स्थापत्यकला का आधार हमसे पूर्णत. भिन्न जातियाँ एवं जलवायु है अतः उनकी यहाँ चर्चा करना अनावश्यक है। फिर भी मैं यह दावे से कहता हूँ कि मिश्र, सीरिया एव भारतवर्ष में जो कुछ भी महान् और सुन्दर है उसके कारण हमारे महान् और सुन्दर भवनो के कारणों से भिन्न नहीं हैं। स्थापत्यकला के तीन स्कूलो की ही तरह हमारे तीन प्रधान धर्म थे—(१) शक्ति और सरस्वती का उपासक यूनानी धर्म, (२) न्याय और सन्तोष का उपासक मध्यकालिक धर्म एव (३) गर्व और सौन्दर्य का उपासक जागृति-कालीन धर्म। आज इनका अस्तित्व सदा के लिए भूत के गर्भ में समा गया है। हमारी कौम ने अब एक चौथे धर्म को गले लगाया है जिसके देवता की कल्पना भी उसकी अपनी ही है। पहले इन तीनों धर्मों का थोड़ा-बहुत विवेचन कर ही इस चौथे धर्म पर प्रकाश डाला जायगा।

यूनानी लोग सरस्वती को पूजते थे। उनके धर्म के खिलाफ आवाज़ उठाना उनकी निगाह में 'मूर्खता' का द्योतक था। उनकी दृष्टि में देवता शब्द की उत्पत्ति 'दिवस के देवता' अर्थात द्युतिमान वृहस्पति[1] से हुई

1—The God of Day, Jupiter the revealer.

है। ऐथेना[1] उसकी पुत्री है और उसके मस्तिष्क को लेकर वह प्रकट हुई है। हम तो केवल आधुनिक अनुसंधान के आधार पर ही उसके सांकेतिक चित्रों में छिपे हुए गंभीर अर्थ को समझने का प्रयत्न कर सकते है। अधिक न कहकर थोड़े में ही मैं मतलब की बात रखना चाहता हूँ। कई सुन्दर मूर्त्तियों में उसका रूप ढाल में अपने बायें हाथ को मानो रक्षा के लिए ऊपर उठाये हुए अंकित किया गया है। उस ढाल पर गोरगन[2] का सिर लटक रहा है। ये दोनों चिह्न अपूर्ण एव निरर्थक ज्ञान की भीपणता और उदासीनता के द्योतक है (मानो जीव को पत्थर वना रहे हों) जो कटुता, कठोरता और उदासीनता के ज़रिये वयस्क पुरुप के हृदय को शिशु-हृदय से पृथक करता है। अपूर्ण ज्ञान भय, भेद और घृणा का निर्झर है पर कराल-करवाल-वाहिनी पूर्ण विकसिता ऐथेना—निःसृत पूर्ण ज्ञान शक्ति और शान्ति का स्रोत है।

परमपूत देवी रूप की यह यूनानी भावना है। हर यूनानी के जीवन का प्रत्येक कर्म और उसकी कला का प्रत्येक रूप इसी ज्वलंत, शुद्ध और पूर्ण ज्ञान की प्रतिमा के सौन्दर्य-दर्शन की पिपासा से प्रसूत होकर विकसित हुआ है। इसी के आधार पर उसने मानवता के नाते हर कार्य में सदा अधिकाधिक सत्य और शक्ति का ही परिचय दिया है।[3]

१—यूनान और रोम में इसके कई मन्दिर हैं।

२—ऐथेना की ढाल पर अंकित गोरगन मेडूसा (Medusa) है। परस्यूस के द्वारा उसका सिर काट कर ऐथेना की ढाल पर रखा गया है।

३—यूनानी उपासना को विशेषत. सौन्दर्य-प्रधान समझना भारी भूल है। दूरदर्शिता की आधार-शिला पर स्थित वह सत्य और शक्ति-प्रधान थी। यूनानी कला का प्रधान गुण सौन्दर्यापेक्षा अभिप्राय को प्रकट करना था। डोरियन (यूनान के डोरिस नगर का निवासी) की प्रेमोपासना (Apollo-

उसने यह सब किसी अनन्य अनुराग अथवा फल की आशा से नही किया है। यह तो दृढ इच्छा शक्ति और संयमशीलता का ही परिणाम है क्योकि वह अच्छी तरह जानता था कि असफलता के लिए सान्त्वना और पाप के लिए कोई मुक्ति नही है। यूनानी स्थापत्य कला भी निर्मल, उज्ज्वल, स्पष्ट और अर्थ-बोधक रूप में निरन्तर अपना विकास करती गई है।

इसके बाद युरोप की छाती पर सन्तोष-प्रधान महान् ईसाई धर्म ने अपने पैर जमाये। 'पाप से मुक्ति' ही इसकी सारी शिक्षा का सार है। इसका यही सर्वप्रधान सिद्धान्त है। यही कारण है कि इस धर्म मे हमें पाप और रोग का थोडा-बहुत प्रशंसात्मक वर्णन मिलता है। अकसर कहा जाता है कि आरोग्य-लाभ के हर मौके पर हमारा दैवी उपचार होता रहता है। इस सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव कला के ऊपर पाप और रोग के नित्य चिन्तन और उनसे मुक्तिलाभ की काल्पनिक सूझो के रूप में प्रकट हुआ है। अतः हमारी सारी स्थापत्य-कला कुछ तीव्रता और कुछ प्रफुल्लता लिये आशा-निराशा की मिश्रित झाँई की झलक है जो हमारी प्रत्येक आवश्यकता और इच्छा के अनुकूल घुमाई-फिराई जा सकती है

ईसाई धर्म की मूल शिक्षा

---

worship) और ऐथिनियन (युनान की राजधानी एथेन्स का निवासी) की कुमारी-पूजा (Virgin-worhip) दोनों ही दिव्य ज्ञान और शुद्धता की महत्ता की परिचायक है। इन महान् देवी-देवताओं के बाद राष्ट्र के मन पर छापडालने में मानव बल और शक्ति के दाता डियोनिसियस (Dionysius) एव सिरिस (Ceres) का नम्बर आता है। तत्पश्चात् हम वीर कार्यों के प्रदर्शक हरक्यूलस (Hercules) को देखते हैं। यूनानियों के उत्थान के समय उनमें वीनस (Venus) की उपासना बिल्कुल न थी। म्यूजेस (सरस्वती) सचमुच सत्य और समन्वय की शिक्षिका है।

एवं हमारी शक्ति और शक्ति-हीनता के अनुसार शक्तिशाली और शक्ति-हीन भी बन सकती है। इस प्रकार उसका श्रेष्ठ लोगो के हाथो श्रेष्ठतम और निकृष्ट लोगों के हाथो निकृष्टतम रूप प्रकट होता है।

यहाँ यह बात याद रखने की है कि यूनानी और मध्यकालिक दोनो धर्म अपने प्रधान उद्देश्य में मिथ्यापन होने के कारण दुनिया से सदा के लिए उठ गये। यूनान का ज्ञान-धर्म मिथ्या दार्शनिकता और मध्य-कालिक सन्तोष धर्म झूठी सान्त्वना के फेर में पड कर आज अस्तित्वहीन हो गये है। मध्यकालिक धर्म ने खुले हाथो मुक्ति को बाँटकर अपनी हत्या कर ली। टके-टके पर मुक्ति-विक्रय उसके लिए काल हो गया और मै यह कहने में भी नही चूक सकता कि यही मुक्ति-विक्रय कालान्तर में मिथ्या ईसाइयत की जड खोदे विना न रहेगा। सच्चा धर्म तो पापों की जड़ काट कर मुक्ति का मार्ग-प्रदर्शन करता है पर मिथ्या धर्म में मुक्ति टकों के बल बिकती है।

तीसरा आनन्द धर्म है जिसमें डूबकर सारा यूरोप मरणान्त भोग-विलास के हाथो बिक गया। सर्वप्रथम प्रत्येक मधुशाला नृत्यगृह में परिणत हो गई; पश्चात् कदम-कदम पर मारक-यंत्रो (Guillotines) से पृथ्वी का आँचल भर गया। ये तीनों प्रकार की उपासनाएँ भव्य प्रार्थना-मंदिरो मे प्रसूत हुई हैं। यूनानियों ने ज्ञानोपासना की और पारथेनन[1] (कुमारी मंदिर) का निर्माण हुआ; मध्यकालिक लोगों ने सान्त्वनोपासना की और मुक्ति देवी को प्रतिष्ठित कर कुमारी-मंदिरों का निर्माण किया एवं जागृतिकालीन जन समाज ने कामान्ध सौन्दर्योपासना

१—यूनान की राजधानी एथेंस में स्थित संगमरमर का मंदिर जिसका निर्माण ४४२ ई० पू० में हुआ था। यह संसार का एक आश्चर्य है और आज खंडहर अवस्था में पड़ा है।

की और वार्साई[1] एवं वेटिकन[2] के महलों का निर्माण किया । और अब मैं आप से पूछना चाहता हूँ कि आज हम किसकी उपासना मे तल्लीन है और किसका निर्माण करते है ?

आप यह अच्छी तरह जानते है कि हम सदा यथार्थ, व्यावहारिक एवं अटूट राष्ट्र-प्रेम की बातें करते हैं जिसका व्यवहार मनुष्य अपने जीवनकाल में—न कि मरनेपर—करता है । आज हमारा धर्म कोरा नाम का धर्म है जिसके लिए हमारी कमाई का दशांश और समय का केवल सप्तांश ही व्यय होता है । इसके अलावा हम एक और व्यावहारिक धर्म के भी उपासक है जिसमें हम अपनी कमाई और समय का शेषांश अर्पण करते है । उपर्युक्त नाममात्र के धर्म पर हममें परस्पर चखचख भी खूब होती है पर इस व्यावहारिक धर्म पर हम सब सदा एकमत रहते है । यदि मै इस व्यावहारिक धर्म की अधिष्ठात्री देवी को 'लक्ष्मी' अथवा 'ब्रिटेन के बाजार की अधिष्ठात्री देवी' कहकर सम्बोधन करूँ तो आप सब सहमत होंगे । एथेनियन लोगों में भी उनकी 'लक्ष्मी स्वरूपा सरस्वती' अथवा 'बाजार की अधिष्ठात्री सरस्वती' थी । वे उसकी

धनदेवी की अबाध पूजा

उपासना गौण रूप से करते थे पर हमारी लक्ष्मी तो हमारा सर्वस्व है । हमारे सारे विशाल भवन सदा उसकी ही कदमबोसी करते है । एक अर्सा हो गया कि आपने किसी महान् गिरजे की नींव डाली हो । यदि आज मै ऐक्रोपोलिस[3] समझ कर आपके पहाडी स्थलो में से किसी एक की चोटी

१—फ्रांस के राजाओं का शाही महल जिसे लुई १४ ने सन् १६८२ में अपना निवास स्थान बनाया था ।

२—रोम के पोप नगर का महल ।

३—यूनानी नगर, विशेषत. एथेन्स, का दुर्ग ।

पर गिरजा बनाने की सलाह दूँ, तो आप मुझपर हँसे विना नहीं रह सकते। पर ज़रा गौर से देखो—आपके रेल मार्ग के ये उन्नत स्थल मानो एक्रोपोलिस का ही एक लम्बा ढेर है; रेल मार्ग के ये स्टेशन पारथेनन से भी ऊँचे और असंख्य हैं; आपकी ये विशाल चिमनियों गिरजे की मीनारो से भी लम्बी और अनगिनती है; और आपके बन्दर-गाहों के ये घाट, ये गोदाम, ये व्यापार-गृह—सबके सब—महादेवी लक्ष्मी की ही उपासना में तल्लीन है। आपकी स्थापत्य-कला के निर्माण मे उसका सदा हाथ रहा है और जबतक आप उसका चरण-चुम्बन करते रहेगे तब तक वह आपका पल्ला कभी न छोडेगी। अतः उसको समर्पित किये जाने वाले आपके इस व्यापार-गृह के निर्माण मे मेरी सलाह लेना व्यर्थ है। इस विषय में आपका ज्ञान मुझसे कही अधिक है।

फिर भी कुछ सिद्धान्तों के आधार पर व्यापार-गृहों के लिए सुन्दर स्थापत्य-कला के कुछ नमूने सोचे जा सकते हैं। यदि व्यापार में वीरत्व का कोई अंश हो तो आपके इस व्यापार-गृह के बाह्य अंगों पर उसे अपने ढग से अंकित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण स्थापत्य-कला नक्काशी और रंगसाजी से सज्जित की जाती है जिसके लिए कोई न कोई विषय होना अत्यावश्यक है। संसार के राष्ट्रों का भी आजतक यही मत रहा है कि नक्काशी और रंगसाज़ी इन दोनों के लिए किसी न किसी प्रकार का वीरत्व-प्रदर्शन ही उपयुक्त विषय है। यूनानियों ने अपने वर्तन और सुराहियों पर भी हरक्यूलीज को सिंह मारते हुए, अपोलो (Apollo) को सर्प की हत्या करते हुए, एव बक्कस[1] को भग्नहृदय असुरों एवं सांसारिक निराशा का नाश करते

१ — मद्य-देवता।

हुए चित्रित किया है। मन्दिरो पर भी उन्होंने साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध-संलग्न बडे-बडे योद्धाओ का चित्रण किया है। ईसाइयो ने भी अपने घरो और गिरजो पर समान रूप से सुरो को असुरो पर विजय प्राप्त करते हुए अथवा शहीदो को स्वर्ग जाते हुए दर्शाया है। पर हमारे लेन-देन के विषय के लिए यह अवश्य ही एक असगत प्रसङ्ग है। महात्मा ईसा ने भी अपने मतावलम्बियो को इमारतो के बाह्यांगो पर किसी भी प्रकार के व्यापारिक चित्रण के आदेश से केवल वचित ही नही रखा, वरन् अन्दर के हिस्सों में भी किसी प्रकार की व्यापार-सम्बन्धी चित्रकारी न हो, इस पर भी अनेक स्थलों पर अपनी घोर घृणा जाहिर की है। फिर भी इन विषयो में वीरत्व हो सकता है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि जनसाधारण को खाना-कपडा देना तो वीरत्व-हीन पर उनका खाना-कपडा छीनना वीरता का अग माना गया है। हर युग में शत्रुओ से अस्त्र-शस्त्र छीनना वीरता का कार्य समझा गया है, पर नये-पुराने वस्त्रो के विक्रय को वीरत्व हीन करार दिया गया है। यह बात बिल्कुल समझ मे नही आती कि व्यापार करते हुए भी भूखो का पेट भरना और नंगो का तन ढकना क्यों अधम व्यापार समझा गया है। कितना अच्छा हो यदि कोई माई का लाल उसे विजय-भावना से बाँध दे! एक हठी कौम है। सुख को वह तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। ऐसे समय कोई भी उसे जबरदस्ती सुख पहुँचाने में गर्व कर सकता है। सेना बिना केवल थोडी-सी उदारता दिखाकर 'किसी देश पर कब्ज़ा' करने का यह कितना सरल तरीका है! इसी प्रकार लहलहे खेतो को काटने के साथ साथ ऊसर खेतो में बीज डालना और ग्रामों को उजाडने के बजाय ग्राम-निर्माण करना भी विजय का सूचक समझा जाय तो कितना अच्छा

सच्ची वीरता

हो ! क्या सेवा के इन कामों में वीरत्व के सम्पूर्ण अंगों का प्रदर्शन नहीं होता है ? यदि शंका है कि सर्वश्रेष्ठ बलवान् कौन है, तो तलवार के वार के साथ-साथ फावड़ा उठाकर इसका निर्णय करो; सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् कौन है, तो युद्ध की तरह अन्य व्यापारों मे मगज़ लड़ाकर देखो; एवं सर्वश्रेष्ठ वीर कौन है, तो मानवेतर अधिक शक्तिशाली और निर्दयी तत्वों से जूझ कर देखो ।

सैनिक कर्म में जो अद्वितीय और अलभ्य वीर-तत्व दिखाई देता है वह समय पर थोड़ी-सी निश्चित रकम का मिलना है; पर हमारे सेठ-साहूकार एवं अन्य व्यवसायीगण तो सदा इसी उधेड़-बुन में तत्पर रहते है कि उन्हें अपने कार्य के लिए अधिकाधिक धन, और वह भी संयोग आनेपर, मिले । कितने आश्चर्य की बात है कि एक वीर अपने परिश्रम के लिए कुछ भी पाने की चाह न करे पर एक बिसाती सदा उसी मे ध्यानमग्न रहे ! कठिनाइयों में व्यर्थ सिर झोंकना तो मनुष्य को पसन्द है, पर फीतों को सस्ती दर पर बेचना उसके लिए हराम है । भूगर्भस्थ प्रभु की समाधि को पुनः पाने के लिए वे जी तोड़ धर्म-युद्ध (Crusades) में प्रवृत्त हो सकते हैं पर प्राण-युक्त परमात्मा की आज्ञा-पालन के लिए सफ़र करना उनके लिए पाप है । गहरी रकम खाकर भले ही वे नंगे पाँव धर्म-प्रचार के लिए दौड़ पड़ेंगे पर अफसोस ! रोटी-कपड़ा धर्मार्थ बाँटने के नाम उनका कलेजा बैठ जाता है ! अतः आप महानुभाव यदि ऐसे ही कोई सैनिक सिद्धान्त के आधार पर अपना व्यापार करना चाहते हैं, थोड़ी-सी निश्चित रक़म को पाने की इच्छा से व्यापार कर राष्ट्र-पालन की पूत भावना रखते हैं, स्वबन्धु-रक्षार्थ सर्वोत्तम बारूद का उपयोग करने वाले सैनिक की तरह अपने भाइयों के लिए सर्वोत्तम खाना-कपड़ा देने में उचित सावधानी

कैसी विडम्बना !

दिखाना चाहते है, तब तो अवश्य ही मै आपके इस व्यापार-गृह के लिए कुछ सुन्दर मूर्त्त-चिह्नो या प्रतीको की तजबीज पेश कर सकूँगा। पर इस समय तो मै आपको यही सलाह दूँगा कि इस व्यापार-गृह की छत के खम्बो की शोभा बढाने के लिए उसपर रुपयों की थैलियॉ लटका दो, बीजक चिपकाने के लिए उन खम्बो के नीचे के भाग को ज़रा चौडा कर दो, बीच के कमरे में व्यवसायाधिष्ठात्री ब्रिटेनिया देवी की मूर्त्ति को प्रतिष्ठित करो, उसके मस्तक पर तीतर का मुकुट बनाओ जो उन्नत विचारों के लिए युद्ध करने में उसके साहस का परिचय दे एवं उसके शिकार-प्रेम का प्रदर्शन करे, उसकी गर्दन के चारो ओर स्वर्णाक्षरों मे निम्नाशय की पट्टी बॉध दो—'जिस तरह तीतर अपने अण्डो को नही सेता, उसी तरह बेईमानी से कमाई करनेवाले का धन भी अधबीच में पडा रह जायगा और मरने पर लोग उसे 'मूर्ख' कहेंगे;' तलवार के बजाय उसके हाथ में जुलाहे का तकुवा थमा दो [1] और क्रास की जगह उसकी ढालपर मिलनवासी सरदार की ढाल पर चित्रित अर्द्धमुण्ड सुअर का और गेन सेरेट, (Genneseret) के नगर का खाका खींच दो, [1] उसकी छाती पर बटुये के रूप में चर्मकवच लटका दो, और महीने के तीस दिनों तक नित्य एक मुद्रा डालने के लिए उसमे तीस दरारें भी कर दो। फिर इसमें कोई सन्देह नही कि दुनिया खुशी-खुशी आपके इस व्यापारगृह और तत्प्रतिष्ठित ब्रिटेनिया देवी के दर्शन को पधारेगी।

१—अर्द्धमुड सुअर (Semi-fleeced boar) के प्रयोग से रस्किन का सकेत सुअरों के नीच व्यवसाय से है। गेनसेरेट के नगर में ईसा-द्वारा एक चमत्कार घटित हुआ। पिशाचगण सुअरों के शरीर में प्रविष्ट हो गये। वहाँ की जनता को यह बात असह्य हुई क्योंकि मनुष्यों की आत्मा का अपने व्यवसाय की प्रधान वस्तु में प्रविष्ट होना उन्हे नागवार गुजरा। इस पर उन्होंने ईसा को वहाँ

आपकी इस देवी में चमत्कारों की भरमार है। निम्नलिखित दो बातों में यह यूनानी और मध्यकालीन देवियो से भिन्न है—(१) शक्ति सम्पन्नता और (२) शक्ति-विस्तार। (१) उसकी शक्ति सम्पन्नता पर विचार करो। मध्यकालीन धर्म की गतिशील आनन्द की लहर की तरह यूनानी धर्म ने भी ज्ञान का नित्य प्रवाह बहाया। इन दोनों के लिए कार्य की सीमा अथवा रुकावट का कोई प्रश्न ही न था। पर आपकी लक्ष्मी के सम्बन्ध मे तो यहाँ सर्वोपरि सवाल है। कमाते जाओ—पर कहाँ तक? बटोरते जाओ—पर कितना? क्या आपकी मंशा सिर्फ बटोरना ही है और व्यय नही? यदि यह सच है तो मैं खुशी-खुशी कहता हूँ अपनी उपास्यदेवी लक्ष्मी का आनन्द से उपभोग करो क्योंकि उसकी उपासना के बिना भी मै आपकी ही तरह आनन्द से जीवन-यापन कर रहा हूँ। पर यह याद रखो कि यदि आप व्यय नहीं करोगे तो कोई दूसरा करेगा—अवश्य करेगा। आपकी इसी भूल के कारण (बहुतों में एक) मैंने आपके अर्थ-शास्त्र को शास्त्र मानने से इन्कार कर दिया है। आपके अर्थ-शास्त्र में 'अर्थ-व्यय'-सम्बन्धी इस महत्वपूर्ण विषय की सर्वथा उपेक्षा की गई है। अर्थ का व्यय अनिवार्य है। उत्पत्ति और व्यय दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। जितना कमाओगे उतना अवश्य खर्च होगा। ज़रा ध्यान दो; आप अनाज इकट्ठा करते हैं; आप उसके ढेर के नीचे सारे इङ्गलैंड को दबा देंगे अथवा उससे भूखे पेट की ज्वाला बुझायेंगे? आप सोना बटोरते हो क्या

धनोपासना की विचित्रता

से निकाल दिया। बाइबिल में इस घटना का उल्लेख मिलता है। रस्किन इस दृष्टान्त से यह बतलाना चाहता है कि दुनिया में ऐसे भी लोग हैं, विशेषतः अंग्रेज जो अपने व्यापार को ही सबसे अधिक प्यार करते हैं और उसके लिए मानव धर्म मानव-पुत्र का भी तिरस्कार कर सकते हैं।

उससे छप्पर छाओगे अथवा सड़कें मढोगे? व्यय करने का यह भी एक तरीका है। पर यदि आप उसे तिजोरी के भीतर इसलिए भरना चाहते हो कि वह दिन-दूना और रात चौगुना बढ़ता जाय तब तो मैं आपको अधिकाधिक दूँगा—जितना आप चाहते हो उतना ढेर लगा दूँगा—यहाँ तक कि आप की कल्पना को पाट दूँगा पर पहले यह बताओ कि उसका आप क्या करोगे? आप को हज़ारो स्वर्ण-मुद्राएँ दी जायँगी—हज़ारों—लाखों—सोने के पहाड़ आप के दरवाजे पर खड़े हो जायँगे पर ज़रा बताओ कि उन्हें कहाँ रखोगे? क्या आप सोने के हिमालय[1] के ऊपर चाँदी का विंध्याचल[2] खड़ा करोगे? क्या आप समझते हो कि ओस और पानी को आप काई-कंकड-निर्मित प्राकृतिक पहाड़ो की अपेक्षा इन मानुषिक पर्वतो से निकली नदियो के रूप में सरलता से पा सकोगे? आप कह सकते हो कि वह सोना नहीं है जिसे [illegible] इकट्ठा करना चाहते हो। तो फिर वह क्या है? नोट?—नहीं, [illegible] से एक भी नहीं।

ये सोने के पहाड़ क्या होंगे?

नहीं ! पर आप को उत्तर देना ही होगा । "यह बात नहीं हैं, हम तो किसी तरह धुंए की कीमत चाहते है ।" ठीक है; पर आप ही बताओ कि यह नई बला क्या है ? इसकी खोज तो आप की लक्ष्मी देवी ही करेंगी और उन्हे ही इसमे डूबे रहने दो ।

(२) अब दूसरी बात पर विचार करो । 'पेलास'[1] और 'मेडोना'[2] सारे संसार के लिए पेलास और मेडोना थी । उनका कार्य प्राणी-मात्र को शिक्षा और सान्त्वना (सुख) देना था पर ज़रा ग़ौर से अपनी लक्ष्मी देवी की शक्ति पर विचार करो । सर्वसाधारण के बजाय केवल इने-गिने लोग ही इसके कृपा-पात्र है । यह महाभयंकर एवं घातक भेद है । उसे राष्ट्रीय जीवन के अपने आदर्श में, जिसके विकास और स्थिति में लक्ष्मी का हाथ है, ज़रा ढूँढो ।

मेरे विचार से आपके मानव-जीवन का वर्तमान आदर्श यह है कि उसे इस आनन्दमय क्षणभंगुर संसार में सर्वत्र लोहे और कोयले के बीच सुखपूर्वक बिताया जाय । इस संसार के प्रत्येक आनन्दमय छोर पर दोनो ओर झुकी हुई सुन्दर कोठी हो; अस्तबल और बग्गीखाने हों; सामने सुन्दर पुष्पित पार्क हो एवं उसमें सर्वत्र सुन्दर ठंडे बँगले बने हो और झाडियों के बीच से आपकी सुन्दर सवारी निकलती हो । इस कोठी में केवल लक्ष्मी के कृपापात्र ही रह सकते हैं । दूसरे शब्दों में अपनी सुललिता श्रीमती और सुन्दर कुटुम्ब के साथ स्वकुलभूषण श्रीमान् के लिए ही यह सुरक्षित है जो सदा अपनी अर्द्धांगिनी के लिए रंगीन रंगमहल एवं अद्वितीय आभूषण, अपनी पुत्रियों के लिए नवीनतम नृत्यवस्त्र, पुत्रों के लिए सुघड़ घोड़े और स्वयं के लिए

१—यूनानियों की ज्ञानदेवी (सरस्वती) ।

२—कुमारी मेरी, मध्यकालीन ईसाइयों की आनन्ददेवी ।

सुन्दर शिकार स्थल का प्रबन्ध कर सकता है और भी;—कोठी से लगी मिल हो, जिसमें सर्वत्र विशाल एंजिन हों, गगनचुम्बी चिमनी हो, नित्य हज़ारो मजदूर पसीना बहाते हों, जिन्हें कभी भरपेट खाना न मिलता हो, पर जो पूजा-पाठ करते हो एवं सभ्य शब्दों का सदा व्यवहार करते हो।

क्या विस्तृत और मुख्य रूप में आज यही आपके जीवन का आदर्श नहीं है? उन श्रीमानो की निगाह में यह स्वर्ग है पर उन दीन-हीन अभागे मजदूरो के लिए इसका कोई महत्व नही है। यह ऊपर से लुभावना पर नीचे से खोखला हवाई महल है। यदि यह देवी एक परिवार के लिए सौभाग्य-वितरण करती है तो दूसरे असंख्य परिवार इसके मोहताज है। आप कह सकते है—"नही, यह बात नही है; अपने-अपने भाग्य का सबको मिलता है।" बिल्कुल ठीक; लाटरी में यह सबके लिए संभव हो सकता है, पर वहाँ भी उतनी ही संख्या कोरे कागज़ो की होना ज़रूरी है। "पर लाटरी मे भी युक्ति और बुद्धि के बजाय अन्धे भाग्य के भरोसे बैठना पडता है।" इससे क्या! क्या आप यह समझते है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त आज के बुद्धि-कौशल के सिद्धान्त से कम अन्यायी प्रतीत होता है?—और वह भी जब हम किसी अबला या बालक की कमजोरी से फायदा न उठाकर ख़ुद मनुष्य की मूर्खता से अपना उल्लू सीधा करते हैं? "नही, कर्म करना नितान्त आवश्यक है और साथही किसी का अमीर और किसी का गरीब होना भी ज़रूरी है।" अच्छा, यह भी मंजूर है। कर्म भी आवश्यक है और कर्म के संचालक भी। पर मै दावे से कहता हूँ कि आज के कर्म-सचालक सर्वथा अयोग्य

ऊपर से लुभावना पर नीचे से खोखला महल

साबित हुए है क्योंकि सरकार की आवश्यकता पर उन्होंने हमेशा ज़ोर दिया है और 'स्वतन्त्रता' के खिलाफ घृणास्पद शब्दों में आवाज़ उठाई है। पर याद रखो कि कर्म-संचालक होना एक बात है और कर्म के मुनाफे को चटकर जाना दूसरी बात है। यदि कोई सेना ख़जाने अथवा ज़मीन के लिए लड़ती है तो आपके सेनापति होने का मतलब यह नही है कि उसके द्वारा हस्तगत किये ख़जाने या ज़मीन को आप हज़म कर जायें। इसी प्रकार आपका राष्ट्र-पति होना आपको यह अधिकार नही देता कि उस राष्ट्र के अमार्जित सम्पूर्ण मुनाफे को आप स्वयं हज़म कर ले। इसके विपरीत सच्चे राजा का तो आचरण ही दूसरे ढंग का है। वे तो अपने लिए राष्ट्र की कमाई का सबसे कम अंश लेते हैं। सच्चे राजत्व का इसके समान अभ्रान्त दूसरा कोई मापदंड नहीं है। क्या वह गद्दीधारी-प्राणी साधारण वीरत्व-प्रधान एवं बाह्याडम्बर-रहित जीवन बिताता है? तब तो अवश्य ही वह राजा है। क्या वह सोने-चाँदी मे लदकर छप्पन भोगों का सेवन करता है? तब तो अवश्य ही वह राजा नही है। हो सकता है कि वह सुलेमान (Soloman) के समान हों, पर यह तभी संभव है जब कि सारा राष्ट्र ख़ुद उसके साथ इस धूम-धाम मे भाग ले। सालोमन ने सोना जमा किया पर केवल इसलिए नहीं कि पत्थरो की तरह केवल उसे अपने महल में जड़े वल्कि जेरुसलम को भी सोने की ईंटो से पटा हुआ देखे।

फिर भी प्रकाशमान राजत्व के ये चिह्न आज मिट्टी मे मिल गये पर राजभक्त कर्मियों पर राजकर्मियों के शासनस्वरूप सच्चे राजत्व की निशानी अभी भी बाकी हैं। इन कठोर कर्म-प्रवृत्त राजकर्मियों ने ही सच्चे राज-वंशों को जन्म दिया है। सारांश यह है कि आपका राष्ट्रपति होना आपको यह अधिकार नही देता कि आप स्वयं उसकी सारी सम्पत्ति में

स्वामी बन बैठें। इसी प्रकार यदि आज आप उस राष्ट्र के किसी एक भाग पर कब्जा किये बैठे है, एव उसके खेतो, मिलो, खजानों आदि जीवन-निर्वाह के सारे साधनों पर आपने अपना प्रभुत्व जमा रखा है तो भी आपको कोई अधिकार नही है कि आप राष्ट्र की जिन्दगी की जड को सींचनेवाले उस हिस्से की सारी उपज को स्वयं ही हड़प जायं।

सम्पत्ति आपकी नही है।

आप कह सकते है कि इन विषयो के विरुद्ध बोलना बेकार है क्योंकि उनमे किसी तरह का सुधार करना तुम्हारे लिए संभव नही है। सचमुच दोस्तो, मै कुछ भी नही कर सकता। पर आप तो सब-कुछ कर सकते है और आपको ही यह सब करना पडेगा अन्यथा कोई दूसरी शक्ति कर सकती है और करेगी। क्या आज की हालत सदा इसी रूप में कायम रहेगी? इतिहास के पन्ने उलट कर ज़रा देखो—उसका प्रत्येक पृष्ठ इस बात की घोषणा कर रहा है कि यह त्रिकाल में भी संभव नही है। परिवर्तन अवश्यम्भावी है। पर वह परिवर्तन विकासोन्मुख हो अथवा पतनोन्मुख इसका निर्णय तो हमें ही करना पडेगा। क्या यह संभव है कि बडी-बडी सुन्दर प्राचीन इमारतें खडहर के रूप में पडी हो और अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच कराह रही हो पर आपकी ये मिले दुनिया के भवनो की सर्वोच्च चोटी पर आसीन रहें और उनके चक्र अनन्त के चक्र की तरह सदा चलते रहे? सोचो कि मनुष्य के साथ तो आवागमन का नियम लगा रहे और आपकी ये मिलें सदा चलती रहे! सात-जन्म में भी यह सभव नही है। इनसे अच्छा या बुरा परिणाम अवश्य निकलेगा और इसका निर्णय आप पर ही है। आप जिसे चाहे पसन्द कर सकते हैं।

यह सच है कि उपर्युक्त अन्यायमूलक कार्य जानबूझ कर नही किये जाते। आपको अपने मजदूरों की भलाई का ख्याल है। यदि आपके

स्वार्थ साधन में कोई धक्का न लगे तो उनके लिए आप सब-कुछ करने को तत्पर रहते है। आप में से कई उनको सहायता कर उन्हें अधिकाधिक सुख पहुँचाने का प्रयत्न करते है। पर सच्ची बात तो यह है कि कर्त्तव्य-पालन की गलत धारणा ही इस सारे झंझट की जड है। आप में से प्रत्येक को सदा भलाई करने की ही धुन सवार रहती है पर आप कभी यह नही सोचते कि यह 'भलाई' असल में दूसरों की अपेक्षा आपकी ही 'भलाई' है। इस सारे अन्याय का कारण वर्तमान अर्थ-शास्त्रियों के नित्य-निन्दित इस थोथे सिद्धान्त का प्रचार है कि "अपना भला तो जगत् का भला।" मेरे दोस्तो, जगत्पिता का यह आदेश नहीं है, न कभी था और न सृष्टि-निर्माण ही कभी इस सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। -सची बात तो यह है कि "दूसरो की भलाई अपनी भलाई है।" पर सिर्फ इतने से ही काम नहीं चल सकता। प्राचीन युरोप के मूर्त्ति-पूजक (Pagan) तो इससे भी आगे बढ गये है। प्लेटो[1] नाम का उनमें एक महात्मा हो गया है। मृत्यु के पूर्व उसने अपने अन्तिम उद्गार प्रकट किये हैं। इन उद्गारो में अपने सम्पूर्ण विचारो को पूर्णोन्नत एवं एकरागात्मक बनाने और मानों परमात्मा-द्वारा कल्पित एक वाक्य में उन सबका सार खीचने के प्रयत्न में उसके हृदय और शक्ति ने भी साथ छोड दिया, शब्द-प्रवाह एकाएक रुक गया और सदा के लिए रुक गया।

परोपकार का दंभ

वह 'क्रायटियस' (Critias) नामक अपूर्ण ग्रन्थ का अन्तिम भाग है जिसमें उसने एथेन (Athen) लोगो की कुछ तो परम्परात्मक और कुछ आदर्शवादी दशा का वर्णन किया है; एटलॅंटिस (Atlantis) के स्वप्निल द्वापू के उद्भव, क्रमिक विकास और उसके धर्म की चर्चा की है,

१—यूनान का महान दार्शनिक।

सुत्रं उद्भवकाल की उसी मानव की पूर्णता और उसकी अन्तिम पथ-श्रेष्ठता का खाका खींचा है जिसका उल्लेख हमारे धर्म-ग्रन्थ में ईश्वर-पुत्रों के मानव पुत्रियों से परस्पर विवाह करने के रूप मे मिलता है क्योंकि उसकी निगाह मे सृष्टि की आदि जाति सचमुच ईश्वर-पुत्रो की ही थी जो धीरे-धीरे यहाँ तक गिर गई कि "नवीन पीढ़ी मे उसके (ईश्वर) पुत्रो का दिव्य सादृश्य सदा के लिए अन्तर्धान हो गया।" इसी को वह अन्त मानता है। "जहाँ तक ईश्वरत्व उनकी रग-रग में पूरी तरह लहराता रहा, वे कई पीढियो तक धर्मसिद्धान्तो को सिर झुकाकर मानते रहे, एव अपने दिव्य स्वभाव से मेल खानेवाली सम्पूर्ण बातों का सदा प्रेमपूर्वक पालन करते रहे क्योंकि उनकी अन्तरात्मा सर्वरूपेण महान्, भक्तिमय एव सत्यवस्रूप थी। इसी कारण वे परस्पर नम्रतापूर्वक व्यवहार करते थे, जीवन के प्रत्येक आगत अवसर से लाभ उठाते थे, सद्गुण को छोड कर शेष सब बातो को हेय समझते थे, रोज़मर्रा की बातो पर ध्यान नही देते थे एव सिर पर धन-दौलत का बोझा उठाये नही फिरते थे। उनका तो यह सिद्धान्त था कि यदि उनमे पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का स्रोत निरन्तर बढता गया तो उपर्युक्त बातें अपने आप बढती जायेंगी, पर यदि उन्होंने जगत् की जड वस्तुओं को अपना लक्ष्य बनाया और उनकी प्राप्ति में जमीन आसमान एक कर दिया तो वे ही सबसे पहले उनके हाथो से चली जायेंगी और साथ-साथ पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का स्रोत भी सदा के लिए सूख जायगा। इसी तर्कना एवं अवशिष्ट ईश्वरत्व के आधार पर उन्होने उपर्युक्त उत्कर्ष की सर्वोच्च दशा को प्राप्त किया था। परन्तु जब उनके ईश्वरत्व का सूर्य ढलता गया, उसके विनाश की अन्तिम घडी निकट आ पहुँची और देखते ही देखते वह सदा के लिए डूब गया, जब वह मौत की चलती चक्की के घात-प्रति-

वह जीवन-दृष्टि !

घात-रूपी पाटों में पिस कर दुनिया के परदे पर से सदा के लिए उठ गया और-और जब वह पूरी तरह मानव-स्वभाव के शिकंजे में जकड गया, तभी भाग्य के उलट-फेरों को बर्दाश्त करना उसके लिए दुश्वार हो गया, उनका जीवन पूर्ण विकृत हो गया और वे अपनी मान-मर्यादा के सर्वोत्तम अंश को होम कर दुनिया की निगाह में सदा के लिए निकम्मे हो गये। इतना सब होने पर भी सुखी जीवन के सच्चे रहस्य से अनभिज्ञ महामूर्खों की निगाह मे तो वे उस समय भी अथाह सम्पत्ति और शक्ति के भारी बोझ से लदे होने के कारण अमीर और सुखी समझे जाते थे। जब न्यायसंचालित महाराज्य के अधिपति देवादिदेव[1] ने एक सच्ची कौम को इस तरह पतित होते देखा और उनके द्वारा संयमपूर्वक जीवन बिताने के लिए उसने उचित दंड-व्यवस्था करनी चाही तब देवताओं का दरबार कर उसने कहना प्रारम्भ किया... ...."

बस, वह महापुरुष इतना ही लिख सका—आगे उसकी लेखनी सदा के लिए रुक गई। उस सनातनी मूर्तिपूजक के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की झलक का इन्ही शब्दों से अन्त हुआ। ये शब्द पूर्णतः लक्ष्मी को लक्ष्य कर ही कहे गये है जो आज आपकी आराध्या देवी के आसन पर विराजमान है, जिसकी स्वर्ण-प्रतिमा बेहद ऊँची और हमारे देश के उन हरे-भरे प्रदेशों मे, जहाँ आज मिलों का तांडव हो रहा है, प्रतिष्ठित है, जिसका हमारे प्रभु और धर्म दोनों ने सम्पूर्ण प्रतिमाओं में सर्वप्रथम निषेध किया है[2] एवं जिसका विरोध उन ईश्वराज्ञाओं की ही रूह मे

---

[1]—यूनानी देवता ज्यूस (Zeus) से तात्पर्य है।

2—Mathenw 6 24 और 10. 9.

"No man can serve two masters for either he will hate the one, love the other, or else he will

बोलने वाले प्रत्येक युग और कौम के प्रत्येक प्राणी की जिह्वा ने सदा किया है। यदि इसी सर्वबहिष्कृत देवी की पूजा को अपना प्रधान लक्ष्य बनाते हो तो समझो कि सारी कला, विज्ञान और आनन्द दुनिया के परदे पर से सदा के लिए उठ गये।

पतन की लहर उठेगी और अवश्य उठेगी—पतन से भी बदतर, जो दुनिया के लिए धीरे-धीरे नरक का रास्ता साफ कर देगी। परन्तु यदि आप सच्चे मानव-जीवन का कोई सुचारु रूप निर्धारित कर सके, जिसका सम्बन्ध आपके जीवन की ही तरह प्राणीमात्र के जीवन से हो; और यदि गुज़र-बसर की कोई सीधी सच्ची राह कायम कर सके, जिसका आधार आनन्दप्रद, सनातन-संचित, शान्तिपूर्ण ज्ञान का पथ हो, तभी सारी धन-दौलत को दुनिया की धन-दौलत (Common wealth) के रूप मे पवित्र कर आपकी सम्पूर्ण कला, साहित्य, दैनिक जीवन, गार्हस्थ-प्रेम, एव नागरिक कर्त्तव्य की विभिन्न धाराओ का परस्पर संगम होगा और वे महान् मिश्रित गंगधारा के रूप मे एक मार्ग का अनुसरण कर बढती जायँगी, तभी आपको स्थापत्य-कला के भव्य रूप का दर्शन होगा, पत्थरो की अपेक्षा आप शरीरो से कही अधिक सुन्दर निर्माण करोगे, आपके मन्दिर भी हस्तनिर्मित न होगे बल्कि दिलो की एक-एक कडी से उनका निर्माण होगा, और वह रक्ताभधमनी-रेखामंडित अनन्त सौन्दर्यमय संग-मर्मर विश्व के हृदय में सदा अङ्कित रहेगा।*

---

hold to the one, and despise the other. Ye cannot serve God & Mammon."

"Provide neither gold nor silver, nor brass in your purses"

*ता० २१ अप्रेल सन् १८६४ को ब्रेडफोर्ड के टाउनहॉल में व्यापारियों के सम्मुख दिया गया भाषण।

: ३ :

युद्ध

प्रिय सैनिको,

यह आपके लिए अवश्य आश्चर्य की बात है कि आज एक चित्रकला का लेखक आपके सामने युद्धकला पर भाषण देने आया है। 'कला' मेरा प्रिय विषय है। उस पर कुछ बोलना आपके लिए आनन्दप्रद नहीं हो सकता। इसी प्रकार युद्ध पर मेरे उपदेश की आपको कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अब हमारे देश के महान् रण-कुशल एवं अनुभवी योद्धागण अत्यन्त गंभीर विचारक हो गये हैं। आज उनकी वीरता के उदाहरण और उनके गंभीर तथा अनुभवपूर्ण शब्दों को छोड़ कर आपको अन्य किसी प्रकार की शिक्षा अथवा सलाह देना व्यर्थ है।

पर आपके कई बार आग्रह करने के कारण आज मैं आपके निमंत्रण को न टाल सका। अब मैं आपके सामने कुछ खुली बातें रक्खूँगा जिनको मेरा विश्वास है, आप ध्यान-पूर्वक सुनेंगे। आप शायद सोचते होंगे कि मेरा कार्य आपसे सर्वथा भिन्न है; उसका आपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पर मैं यह नहीं सोचता। आपकी यह धारणा मेरी दृष्टि में बिल्कुल भ्रम-मूलक है, क्योंकि शान्तिकाल की सम्पूर्ण उच्च और महान् कलाएँ युद्ध पर ही आश्रित हैं। बहादुर कौम वाले देश को छोड़ कर दुनिया के परदे पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ किसी भी महती कला का विकास हुआ हो। शान्तिप्रिय गडरियों और किसानों में कोई कला नहीं पनप सकती। व्यापार और कला का परस्पर नगण्य सम्बन्ध है, वह कला को जन्म नहीं

दे सकता। कल-कारखानों का उसे जन्म देना तो दूर रहा, वे तो उसके रहे-सहे बीज के भी नाशक हैं। बिना युद्ध के आश्रय के कोई भी राष्ट्र कला को नहीं पा सकता।

मेरे उपर्युक्त विश्वास पर आपको आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। आप सोचते होंगे कि आपका कर्तव्य तो जन्म देने के बजाय शान्तिकालोत्पन्न वस्तुओं की रचा करना है। आपकी यह भी धारणा होगी कि युद्ध की साधारण प्रगति तो कला का नाश करने में है। यदि मैं अपने अनुभव पर विश्वास करता तो आज आपको युद्ध के उपर्युक्त फायदे कभी न बता सकता, पर बात यह नहीं है। वेनिस की चित्र कला के अनुसधान में मेरा अधिकांश समय व्यतीत हुआ है। इसके परिणाम-स्वरूप एक व्यक्ति को मैं चित्रकारों से सर्वोच्च मानता हूँ। वह व्यक्ति है—टिटोरेट (Tintoret)[1] उसकी महत्ता में मेरा विश्वास उसके चित्रों के प्रदर्शनी-भवन को देखने पर दृढ हुआ था। उस भवन में उसके सर्वश्रेष्ठ तीन चित्र आष्ट्रिया की तीन गोलियों से जर्जरित फटे केनवास के चीथडों के रूप में रक्खे हुए थे। कोई भी वक्ता आपको यह नहीं बता सकता कि उसने अपने सर्वप्रिय तीन चित्रों को गोलियों से खंड खड हुए देखा और न इस दृश्य को देखकर वह यह कहने का साहस कर सकता है कि युद्ध ही सम्पूर्ण महती कलाओं का आधार है।

भिन्न-भिन्न युग की इतिहास-प्रसिद्ध जातियों की दशा का थोडा-बहुत तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं आपके सामने दुनिया की

१—इसका समय सन् १५१२ से १५९४ तक है। इसके अनेक चित्रों में "The crucifixtion", "The marriage at Cane एवं "The Last Supper" सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

सर्वश्रेष्ठ कला के क्रमिक विकास की आधारभूत मोटी-मोटी बातों का खाका खींचूँगा। सर्वप्रथम उसके दर्शन हमको मिश्र में होते हैं। मिश्रजाति प्रधानतः पुरोहित-प्रभावाधीन थी। उसमें सैनिकों का दर्जा दूसरा था। इस प्रकार की जाति के मस्तिष्क से प्रसूत हुआ मृत्यु और परलोक का शाश्वत चिन्तन ही उसकी शक्ति का स्रोत था। अपने राजाओं का युद्ध-गमन अथवा विजित सेनाओं द्वारा सत्कार-प्राप्ति आदि दृश्यांकित पाषाण-प्रतिमाएँ ही उसकी सर्वोत्तम कला-कृतियाँ हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मिश्र के राष्ट्र को प्रकाशोज्ज्वल करनेवाली आधारभूत महान् कुंजियों में एक यह भी थी कि उसके पुरोहित कोरे धर्मांध ही न थे। उनका धर्म व्यावहारिक राजसत्ता एवं कानून का मूल था। पुरोहित होने से अधिक वे धर्मधुरीण न्यायमूर्त्ति थे।

कला के विकास पर एक दृष्टि

इस प्रकार कला के सम्पूर्ण मूलतत्त्व सर्वप्रथम इसी वीर कौम के द्वारा निर्धारित हुए जो यंत्र-सचालित सारे व्यापारों और गडरियों के शान्तिमय जीवन को बडी हेय दृष्टि से देखती थी। मिश्र से चलकर यह (कला) सीधी यूनान में जाकर पनपती है। यूनान की सारी कविता और चित्र-कला युद्ध अथवा धर्मभूत युद्ध-प्रेरक प्रयोगों के वर्णन, प्रशसा, एवं नाटकीय प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यूनान के सारे संगठित दलों ने सर्वप्रथम युद्ध का ही गुणगान किया है। उन्होंने दिव्य मानवतापरिपूर्ण जीवन के आवश्यक अंगभूत मूलस्वरूप की अभिव्यक्ति अपने देवताओं की प्रतिमाओं के द्वारा की है। अपोलो (Apollo) सम्पूर्ण ज्ञान का देवता है। वीणा के पूर्व वह तीर-कमान धारण करता है। एथेना सारे व्यावहारिक ज्ञान की देवी है। ढरकी के स्थान पर ढाल

और शिरस्त्राण को धारण कर ही वह दूसरे देवताओ से भिन्न समझी जाती है।

यूनान और मिश्र की व्यावहारिक धारणाओं में दो बड़े सैद्धान्तिक मतभेद थे। यूनान में कोई सैनिक वर्ग नही था। वहां का हर नागरिक स्वयं सैनिक था। मिश्रवासियों की तरह यूनानी लोग भी यांत्रिक कलाओ को हेय समझते थे। फिर भी उन्होने कृषि-प्रधान देहाती जीवन को घृणात्मक दृष्टि से देखने की घातक भूल नही की बल्कि दोनो को बड़े आदर की दृष्टि से देखा। सद्विचार की ये दोनो धाराएँ उन्हे आज तक के मानव-विकास के सर्वोच्च शिखर पर आसीन करने के लिए पर्याप्त है क्योंकि हमारे सारे महान् विचार और हमारी सम्पूर्ण महान् कलाएँ उन्ही से पैदा हुई है। उनकी इस देन को हमसे लेलो और देखो कि युरोपीय दुनिया कितने गहरे गढे में है।

यूनान और मिश्र की धारणाओं में भेद

अब इसके पूर्व कि हम इतिहास के दूसरे अंग पर विचार करें, हमें यह ध्यान मे रखना चाहिए कि कला की उत्पत्ति के लिए युद्ध आवश्यक होने पर भी हमें युद्धोत्तर किसी दूसरी बात की भी आवश्यकता है और वह है जनता मे कलात्मक रुचि अथवा प्रतिभा का होना। युद्ध-प्रतिभा (gift for figting) के अभाव में सारी दुनिया की चित्रकलाभिमुख प्रतिभा हमें महान् चित्रकार नही बना सकती परन्तु युद्धमूलक प्रतिभा होते हुए भी हम में चित्रकला के लिए प्रतिभा का अभाव हो सकता है। सैनिको की आगे की दूसरी कौम में इस कलात्मक रुचि का सर्वथा अभाव था। इसके क्या कारण थे इस पर मै अधिक नही कह सकता क्योंकि रूमी चरित्र के सम्बन्ध में मैने अधिक छान-बीन नही की है। आपको विरोधी प्रतीत होते हुए भी मेरा दृढ विश्वास है कि रूमी लोग अपने को

मंगल-पुत्र और भेड़िये को अपनी धात्री समझ कर भले ही गर्व से फूले न समाते हों पर हृदय से वे सैनिक होने की अपेक्षा कृषक ही अधिक थे। युद्ध के प्रयोग उनके लिए काव्यात्मक की अपेक्षा केवल व्यावहारिक ही थे। उनकी कविता घरेलू जीवन तक ही सीमित थी और युद्ध का प्रधान उद्देश्य शान्तिस्थापना था। उनके हाथों में पडकर ललित कलाएँ मर-सी गईं और जबतक गोथिक वीरता के साथ-साथ युद्धार्थ युद्ध-प्रेम की धधकती ज्वाला का युरोप के दिल में पुनः स्फुरण नहीं हुआ तब तक वे अपना सिर ऊँचा न कर सकी। फ्रांस, इंग्लैंड और स्पेन के युद्ध-प्रिय बादशाहों एवं इटली के योद्धा सरदारों और नागरिकों के नेतृत्व में दिखाई देनेवाली कल्पनातीत रोमांचकारी वीरता के साथ-साथ कला का पुनर्जन्म हुआ, उसने आल्पस (Alps)[1] अथवा ऐपेनाइस[1] की प्रत्येक रक्तरंजित सरिता से सज्जित टस्केनी और लोम्बार्डी[2] की विशाल घाटियों मे अपना मस्तक ऊँचा किया और वह उस नगरी (वेनिस)[3] मे अपने सर्वोच्च गौरव पर पहुँची जिसने इतिहास को वीरत्व का मानव-कल्पना-संभूत सर्वोपरि प्रबल नमूना भेंट किया है एवं युद्धकाल में जिसकी सेनाओं का संचालन स्वयं उसके, उस अन्धे और वृद्ध बादशाह[4] ने किया था जिसके नेतृत्व में उन्होंने सदा अपने सिर पर विजय का सेहरा ही बाँधा था।

१—दोनों इटली के सुप्रसिद्ध पहाड़ हैं।

२—दोनों इटली के प्रान्त हैं जिनमें विशाल घाटियां हैं।

३—इटली का सुप्रसिद्ध कलाप्रधान शहर।

४—यहाँ इनरिक डेंडोल नामक बादशाह के प्रति संकेत है जिसका समय ११०८–१२०५ ईसवी है। इसने वृद्ध और अन्धे होने पर भी ९७ वर्ष की अवस्था में कुस्तुनतुनिया पर धावा किया एवं सफलतापूर्वक युद्ध किया।

इस युग के बाद युरोप में शान्तिमय वायु-मण्डल के स्थापित होते ही ललित कलाएँ भी दिन-दिन अपनी मौत की घड़ियाँ गिनने लगी। वे अपनी आत्महत्या कर ही अमूल्यत्व की अनुपम सीमा पर चढती है और उनका नाम सदा के लिए विलास और पतन के कारनामों में दर्ज होता है। वे पूर्णतः शान्तिप्रिय राष्ट्रो में समूल विनाश को प्राप्त होती है और उनकी आंशिक आभा हमारे और फ्रेंच लोगो की तरह केवल अव्यावहारिक मानसिक वीरत्व-भावना-प्रधान कौमो मे यदा-कदा फूट पडती है।

एक शान्तिप्रिय व्यक्ति कह सकता है कि 'चूल्हे मे जाये' तुम्हारी ये कलाएँ—यदि इतना खून-खच्चर करने पर ये प्राप्त होती है। सीधे-सादे घरेलू जीवन के आनन्द और शान्ति की तुलना में इन केनवास और पत्थरो के खिलौनो का क्या महत्व है?' इसका उत्तर यह है कि 'सचमुच उनमें स्वयं कुछ भी नही धरा है। पर वे केवल मानव-भावना की सर्वोच्च दशा के अभिव्यक्तिकरण के कारण ही अमूल्य हैं। वस्तुरूप में, हो सकता है, वे सर्वथा व्यर्थ हो, पर संकेत-चिह्नो के नाते उनका मूल्य आँका नही जा सकता। यह सर्वमान्य सत्य है कि मानव की बहुमुखी भावनाओ का प्रबल प्रवाह जब रोके नही रुकता, तभी वह कला के रूप में फूट पड़ता है। किसी भी राष्ट्र को भावना के इस प्रवाह से रहित मानना मानो उसे मानव-स्वभाव के समतल से कई गुणा गड्ढे में होने का फतवा देना है।' अतः मेरे इस कथन का कि 'युद्ध ही सम्पूर्ण महती कलाओं का आधार है' अर्थ यह है कि वह मनुष्यो के सर्वोच्च सद्गुणों और भावनाओं का आधार है।

कला का मूल्य

मेरी उपर्युक्त राय का कारण एक आश्चर्यजनक घटना है, मैं उसकी सच्चाई से इन्कार नही कर सकता। जनसाधारण का यह विश्वास कि

'सामाजिक जीवन के प्राण शान्ति और सद्‌गुण साथ-साथ पनपते हैं' सर्वथा निराधार है। हम सदा शान्ति और शिक्षा, शान्ति और सम्पदा, एवं शान्ति और संस्कृति के ही गीत गाया करते हैं पर इतिहास ने इन शब्द-युगल को कभी एक ताल नहीं किया है। इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ से तो सदा शान्ति और विलास, शान्ति और स्वार्थ, शान्ति और पतन, एवं शान्ति और मृत्यु की ही आवाज़ बुलन्द हुई है। थोड़े मे यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक महान् राष्ट्र ने सत्य-पालन और विचार दृढ़ता युद्ध मे ही सीखी है। युद्ध उनका पालक और शान्ति उनकी संहारिका थी, युद्ध उनका शिक्षक और शान्ति मृगमरीचिका थी; एक शब्द में युद्ध उनका आदि और शान्ति उनका अन्त थी।

उपर्युक्त कथन प्रत्येक युद्ध के लिए लागू नहीं होता है; असुर की दंत-पंक्ति का प्रत्येक दाँत इन्सान पैदा कर सकता है[1] पर प्रत्येक युद्ध से हम ऐसी आशा नहीं कर सकते। जिस युद्ध का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह बर्बर भेड़ियो के गिरोह की लूटमार नहीं है जैसा कि हमने गेनसेरिक[2] अथवा स्वेरो[3] के ज़माने में देखा था; वह सीमाप्रान्त की जगली जातियों के अशान्ति-मूलक हमलो का रूप नहीं है जैसा कि स्काटलैंड के सीमान्तों में होता था; वह धीर-वीर जाति के जीवन-संग्राम का परिणाम नहीं है जैसा कि स्वीज़रलैंड निवासियों द्वारा आस्ट्रिया पर

१—यह संकेत यूनानी दंतकथा के प्रसिद्ध ड्रैगून की ओर है जिसका वध थेब्स के संस्थापक ने किया था। इस असुर के दाँतों को उसने बोया था और उससे स्पार्टन लोग उत्पन्न हुए थे।

२—स्पेन का एक बर्बर राजा सन ४१६।

३—रशिया का एक जनरल समय १७२९ १८००। यह सप्तवर्षीय युद्ध में एक लेफ्टिनैंट था और इतिहास में अपनी क्रूरताओं के लिए प्रसिद्ध है।

पर किये गये संग्रामों से पता चलता है; और न वह केवल शक्ति-लोलुप कौमों की साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा का ही फल है जैसा कि नेपोलियन द्वारा किये गये अथवा अमेरिका मे होने वाले युद्ध हैं। इन युद्धो ने तो केवल कब्रो को खडा किया है। पर निर्माणकारी प्राण संचारक युद्ध तो वह है जिसमें मानव-स्वभावजन्य अशान्ति और संघर्ष का निग्रह सर्व-सम्मति से सांघातिक पर सुन्दर खेल के रूपो में होता है, जिसमें सर्वव्यापक बुराइयो पर एकान्त विजय से शक्ति, प्रेम और लालसा का नियमन होता है; और जिसमें आत्मरक्षा की स्वाभाविक भावनाओ की शुद्धि संस्थाओ की महत्ता एवं उनके द्वारा रक्षित परिवारों की पवित्रता पर निर्भर होती है। इसी युद्ध के लिए प्राणी मात्र का जन्म हुआ है और हँसते-हँसते वह इसी मे अपना बलिदान कर सकता है। इसी युद्ध से गत सम्पूर्ण युगो में मानवता के सारे सद्गुणों और सद्भावनाओं का आविर्भाव हुआ है।

जिस युद्ध की मै चर्चा करना चाहता हूँ उसे मै तीन भागों में विभक्त करता हूँ—

१—आनन्द के लिए किया गया युद्ध,

२—साम्राज्य-विस्तार के लिए किया गया युद्ध, एवं

३—आत्म रक्षा के लिए किया गया युद्ध।

१—आनन्द के लिए किया गया युद्ध—इस कथन का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण ऐतिहासिक काल में युद्ध की कारणभूत एवं युद्ध का शंख फूँकने वाली जातियाँ केवल आनन्द के लिए ही युद्ध की घोषणा करती थी। रँगरूटो और मल्लाहों के लिए वह खेल नही है और न वे बेचारे उसके कारण है। युद्ध-प्रिय शासको और पेशेवर योद्धाओं के लिए युद्ध सदा विशाल खेल का

एक खेल

रूप रहा है क्योंकि उसे छोड उन्हे दूसरा कोई काम ही न था। वह शासक, जो अपने राज्य की आन्तरिक जडों को सदा मजबूत बनाने में तत्पर रहता है एवं इसी प्रकार के अन्य कार्यों में व्यस्त रहता है, मजबूर किये बिना कभी युद्ध के दलदल मे नही पडता। वह युवक भी, जो किसी एकान्त विषय के अध्ययन में तल्लीन रहता है अथवा किसी उपयोगी धंधे मे संलग्न रहता है, स्वतः योद्धा नहीं होता। आरम्भ से ही उसे खेती-बाडी या व्यापार मे डाल दो—विज्ञान अथवा साहित्य में लगा दो, फिर तो वह युद्ध को विपत्ति के निमंत्रण के सिवाय और कुछ न समझेगा और न स्वप्न में ही कभी उसका नाम लेगा। पर उसे बेकार रहने दो, और देखो कि जितना ही वह वीर, कर्मण्य और प्रतिभावना होगा उतना ही वह किसी भी निश्चित कर्मपथ का अनुसरण करने के लिए छटपटायगा और निदान युद्ध की लालसा में अपने बेकार जीवन की एकमात्र सन्तोषप्रद सिद्धि पायेगा। यदि हम निगाह फैलाकर देखें तो हमें पता चलेगा कि सभ्यता के आरम्भ से आजतक दुनिया की आबादी दो दलों में बँटी हुई है। एक दल है श्रमजीवियों का और दूसरा खिलाड़ियों का। पहले का काम है खेती-बाडी करना, उद्योग-धंधे करना एवं जीवन की अन्य आवश्यकताओं को जुटाना पर दूसरा सदा आलस्य की मस्ती मे चूर रहना है, आमोद-प्रमोद के लिए तडपता है, और इसी मदमस्ती मे उन श्रमजीवियो का, उन्हे जानवर, कठपुतली एवं मौत के खेल की मोहरें मानकर, खून बहाता है।

यदि ठीक तरह खेलने पर इस युद्ध के खेल में कोई भलाई या गुण नजर भी आये तो वह इस तरह छोटे-छोटे मानवी मोहरो से खेलने पर अदृश्य हुए बिना न रहेगा।

मित्रो, यदि आप युद्ध से विहार करना चाहते हो तो शौक से करो।

मै इसका स्वागत करता हूँ। पर कृपा कर हरे-हरे खेतो की शतरंज-पट्टी पर इन अभागे कृषक-मोहरों से न खेलो। यदि आप को मौत के सट्टे का खेल खेलने की धुन सवार है, तो उसे खुद खेलो। ओलिम्पिक की धूल[1] में सच्चाई से खेला गया खेल देवताओ को प्रिय होगा और उसमे वे आप का साथ भी देंगे; पर यदि आप अपने उस विशाल भवन मे बैठकर, जिसके ज़ीने दुनिया के पहाड और चौक उसकी घाटियाँ है, असंख्य अभागे कृषकों को युद्ध के खेल में भाग लेने के लिए भडकाओगे तो वे ही देवता आपका कभी साथ न देंगे। और हे देवियो, जिनकी आज्ञा में और जिनके लिए संसार की सारी सच्ची लडाइयाँ लडी गई हैं और भविष्य में लडी जायँगी, आप आज अवश्य ही रानियो की तरह सर्वोपरि बैठकर मृत्यु-सभावित इन सार्वजनिक खेलो को देखने के विचार-मात्र से सहम उठेंगी। फिर तो उस समय भी, उस विशाल भवन मे बैठने के विचार मात्र से, जिसमें आपको प्रसन्न करने की भावना से थोडे से बहिष्कृत गुलाम परस्पर एक-दूसरे की हत्या किया करते थे, अधिकाधिक सहम उठना चाहिए था!—और-और आज उस स्थल पर बैठकर जहाँ आपकी कौम के चुने हुए वीर निर्धन युवक एक-दूसरे का खून बहा रहे हो,—पटैतो की तरह परस्पर जूझने के बजाय जातियो मे परस्पर घमासान मच रहा हो—आप बैठने की यथार्थता से जरा भी नही चौंकती? आप कह सकती हैं कि आप यह दृश्य देखने नहीं बैठती। ठीक है, हमारी

दूसरों को शतरंज के मुहरे न बनाओ

१—प्राचीन काल में यूनान के लोग ओलिम्पिया की घाटी में अपने देवता जुपीटर ओलिम्पिस के सम्मान में हर चौथे साल जिन खेलों को खेलते थे उन्हें ओलिम्पिक गेम्स कहते है। धूल से यहाँ वीर खिलाडियों के रथों से उडने वाली धूल से तात्पर्य है।

वे देवियाँ, जिनके स्वार्थ को युद्ध से कोई धक्का नहीं लगता, इन अवसरों पर अपनी बैठकों पर परदे डाल देती हैं और खिडकियों को बंद कर लेती हैं जिससे उनके कानों में सिर्फ उस खून-खच्चर के मैदान से उठकर असंख्य आहत मानवों की धीमी-धीमी कराह और वायु की साँय-साँय की तरह मर्मरध्वनि ही गुंजित हो। बस, इससे अधिक वे नहीं सह सकतीं। वे तो परस्पर चुटकियाँ लेने में मस्त रहती है। यही उनका सुख है—उनके सुखी जीवन का सच्चा चित्र है।

उनकी (युद्धों की) तरफदारी कर आप कह सकते हो—"ये युद्ध हमारे आनन्द के लिए नहीं लडे जाते और न हमारी असावधानी ही इनका कारण है, वे तो होंगे और होकर रहेंगे। क्या विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक भीषण संघर्ष का निपटारा बिना युद्ध के संभव है?" लो, इसका भी उत्तर सुनो। राजनीतिक उलझनें कई दूसरे तरीकों से भी सुलझाई जा सकती है। मान लो कि वे नहीं सुलझाई जा सकतीं। साथ ही यह भी मान लो कि विभिन्न राष्ट्रों की बुद्धि का दिवाला निकल गया है, न्याय का उन्होंने गला घोंट दिया है। देखिए ज़मीन, जायदाद, लेन-देन आदि के छोटे-मोटे झगडे तो सत्य और न्याय के आधार पर सुलझाये जाते है, किन्तु साम्राज्यों के बनने-बिगडने के उपस्थित प्रश्नों को सिर्फ तलवार की धार के सत्य और बन्दूक की गोली के न्याय से सुलझाने का ही प्रयत्न किया जाता है। यह सब मानकर भी क्या आपके लिए अपने निर्धन भाइयों के गले इन झगडों को मढ़कर उनके ख़ून से सन्धि-पत्रों पर हस्ताक्षर करना सदा आवश्यक है? इतना तो आप अपने निजी मामलों में भी करने में लज्जित होंगे। फिर क्यों सार्वजनिक मामलों में उपर्युक्त व्यवहार करने में आपको लज्जा नहीं आती? मान लीजिए, आपका अपने

न्याय बनाम ज़बर्दस्ती

पडोसी से झगडा हो गया है। दिन-दिन गाँठ गहरी होती जाती है। फिर भी आप अपने नौकरों को (वेटेरसी[1] के) मैदान में लडने के लिए नहीं भेजते, पडोसी के किरायेदारों की झोपडियों में आग नहीं लगाते और न उनके माल-असबाब को ही लूटते हैं। आप ख़ुद ही अपनी लडाई लडते हैं और उसकी सारी जिम्मेदारी अपने ही ऊपर लेते हैं। इस झगड़े मे किसी का बहुकुटुम्बधारी होना अधिक महत्व नही रखता। कारण, यदि मालिक के साथ उसके नौकर व किरायेदार भी आये तो भी झगडे के मन्तव्य में फर्क नहीं आता। आप चाहो तो लडने से इन्कार कर सकते हो, या मर्यादित ढंग पर एक दूसरे से जूझ सकते हो। परस्पर के इस द्वन्द्व ('डुयेल'[2]) में भी आप न्याय का पल्ला नही छोडते। इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि इस आपसी तकरार के न्यायानुकूल अथवा न्यायविरुद्ध निर्णय से भी अधिक सार्वजनिक झगडो के न्यायानुकूल अथवा न्यायविरुद्ध निर्णय का महत्व है। फिर भी आप इन सार्वजनिक प्रश्नो पर छिडे युद्ध की आग में अपने नौकरो के 'कलेजे के टुकडों' की बलि देते हो और उन गरीबों के मुँह का कौर छीन कर उस आग को प्रज्वलित रखते हो। याद रखो कि शक्ति-स्थापनार्थ की गई आपकी सन्धियों के चर्म पत्रों पर मारी गई वे काली-काली मुहरें उजडे हुए घर-बार और नष्ट-भ्रष्ट खेतों की ही प्रतिच्छाया हैं। बडे-बडे सार्वजनिक

१—ऊलविच, जहाँ पर रस्किन ने यह भाषण दिया था, में स्थित पार्क का नाम। यहाँ युद्ध के विविध अभ्यास किये जाते थे।

२—द्वन्द्व (डुयेल) युरोप में मध्यकाल में यदि दो व्यक्तियों में झगडा होता तो वे अपने झगडे का निपटारा करने के लिए आपस में ही पूर्व निश्चय कर लडते थे और द्वन्द्व युद्ध के जो खास नियम होते थे उनका सदा पालन करते थे। अतः यह हमारे मर्यादित युद्ध की तरह का ही एक युद्ध था।

ऋधम अपराधों की तरह इस सब मे भी एक हृदय-विदारक भयंकर व्यंग छिपा है। महात्मा कार्लाइल[1] के शब्दों में सुनिए—"सरल शब्दो में युद्ध का अर्थ और परिणाम क्या हो सकता है? मान लो डमड्रूज[2] नामक गाँव में ५०० प्राणी रहते हैं। फ्रेञ्च-युद्ध[3] के समय इनमें से ३० सुडौल जवान चुने गये। डमड्रूज ने इन्हे पाल-पोस कर बडा किया है। दुखःदर्द सहकर इन्हे उद्योग-धन्धों मे प्रवीण किया है जिससे कुछ जुलाहे, राज, बढई लुहार आदि बन गये हैं। फिर भी कुटुम्बियों के बीच इन्हे रंगरूटों में भर्ती किया जाता है। रक्ताभ वस्त्रो से ये सज्जित होते हैं। प्रजा के पैसो से जहाज में भर कर इन्हे २००० मील दूर दक्षिण स्पेन की ओर भेजा जाता है एवं काम आने तक इनका भरण-पोषण किया जाता है।

वर्तमान युद्ध का भद्दा रूप

"इसी प्रकार किसी फ्रेंच डमड्रूज से भी चुनकर ३० कारीगरों को उसी स्थान पर भेजा जाता है। मौका पाते ही दोनों दलों में मुठभेड हो जाती है। दोनो तरफ तीस-तीस जवान बंदूक तान कर खड़े हो जाते है।

"मारो-मारो' के घोष के साथ घमासान युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। पागलों की तरह वे एक दूसरे का खून करने पर उतारू हो जाते हैं और

१—सुप्रसिद्ध अंग्रेज विचारक।

२—कार्लाइल ने इस सार्थक शब्द को गढा है—Dumbdrudge dumb = शांत और drudge = परिश्रम अर्थात्-जहाँपर शांत प्रकृति के कठोर परिश्रमी लोग रहते हैं।

३—फ्रांस के सम्राट नेपोलियन के विरुद्ध लडे गये अंग्रेजों के युद्धों के प्रति संकेत है।

बाघ की तरह एक दूसरे पर टूट पडते हैं। और—और दुनिया की छाती पर ६० कुशल कारीगरो के स्थान पर ६० मुर्दों का ढेर लग जाता है; तत्काल उसका कलेजा फट जाता है और आँसू बहाकर वह उन्हें दफना देती है। हृदय पर हाथ रख कर बताओ कि इनमे परस्पर कौनसी नाइत्तिफाकी थी? क्या शैतानो की तरह लडना झगडना इनका काम था? अनजान, बेचारे दुनिया के दो छोरो पर बसते थे। परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध होने से अनजाने ही एक दूसरे के सहायक थे। फिर यह सब क्यों?—सीधे-सच्चे!—पर उनके शासको मे मनमुटाव हुआ और परस्पर एक दूसरे पर वार करने, द्वन्द्व युद्ध द्वारा निबटारा करने के बजाय उन धूर्तों ने इन सरलहृदय प्राणियों को परस्पर वार करने का माध्यम बनाया।"[1]

निश्चय ही फिर तो युद्ध के खेल का यह अनुचित तरीका है। पर मैं पूछता हूँ—'क्या किसी भी तरह से उसका खेलना आवश्यक है?' नौकरों को यदि छोड दे, फिर भी क्या आपका खेलना उचित है? हाँ मेरी दृष्टि मे यही ठीक है। इतिहास और मानव-प्रकृति दोनो ही इसका अनुमोदन करते है। हर स्वस्थ आदमी लडना पसन्द करता है। जोखिम में जान डालने से वह घबराता नही। बहादुर औरतें भी मनुष्य के इन्ही गुणो को पसन्द करती हैं। उनके साहस की कहानियो को वे बडी दिलचस्पी से सुनती है। ऊँची जातियो में यह स्वाभाविक है। मेरा भी यही मत है कि निष्कपट युद्ध उनके लिए खेल का सर्वोत्तम नमूना है और रुकावटो वाली घुडदौड की अपेक्षा प्रतिपक्षियो से दो-दो हाथ होना खेल का उत्तम तरीका है। वह समय आ सकता है जब कि फ्रांस व हमारे देश में रुकावट दौड व क्रिकेट का घर-घर प्रचार हो जाय

१—कार्लाइल की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सार्टर रिसार्टस' का एक अंश।

पर यह बात मेरी समझ मे नहीं आती कि इस प्रचार से दोनो देशों के रईसो के सर्वश्रेष्ठ गुणो का विकास किस प्रकार संभव होगा। ऐसी दशा में मै अपनी युद्ध की अन्य कलाओ से सम्बन्ध रखने वाली कसौटी का प्रयोग करता हूँ। यदि एक शिल्पशास्त्री के नाते मुझसे किसी मृत सामंत के स्मृति-चिह्न को गेंद और बल्ला लिये हुए अंकित करने के लिए कहा जाय तो न मालूम मेरी क्या हालत होगी। आप चाहे तो इसे मेरे असभ्य गोथिक कला के प्रति पक्षपात के संस्कार का शेषांश कह सकते है, पर मैं तो उस स्मृति-चिह्न पर ढाल और तलवार का अकन करूँगा और उसका सम्बन्ध भी किसी कर्त्तव्यपालन अथवा सत्य पर बलिदान होने की घटना से नही जोडूंगा। मान लीजिए कि वह सामंत अपने पडोसी से छेडखानी करने के इरादे से बाहर निकल पडता है। वह एक भाग्यवान सैनिक है; तलवार की नोकपर उसने अपने निर्वाह के प्रश्न को हल किया है। आज वह विपुल धन का मालिक है। इस प्रकार अन्य खेलो की अपेक्षा तलवार के खेल से रोटी कमाना मेरी दृष्टि में बहुत ऊँचा है। मैं तो यही चाहूँगा कि क्रिकेट अथवा सट्टे के खेल की अपेक्षा वह तलवार के बल पर ही अपना निर्वाह करे; रेस के घोडो पर चढने के बजाय युद्ध के लिए तत्पर घोडो पर सवार हो और दूसरे को धोखा देकर लूटने की अपेक्षा अपने प्रतिद्वंद्वी पडोसी का खून कर अपना पेट भरे।

युद्ध सर्वोत्तम खेल होने पर भी मेरे मत से वही सच्चा युद्ध है जिसके द्वारा शस्त्रास्त्रो के प्रयोग में मानव की पूर्ण व्यक्तिगत शक्ति दिखाई दे। यह निम्नलिखित तीन कारणों से हो—सर्वप्रथम इस खेल के पक्ष में सबसे बडी बात यह है कि ठीक-ठीक खेले जाने पर यह सर्वोत्तम प्राणी का निर्णय करता है। इसके खेलने पर यह स्पष्ट हो

जाता है कि कौन ऊँचे खानदान का है, आत्म-त्याग किसमें कूट-कूट कर भरा है, निर्भयता किसकी रग-रग मे लहरा रही है, कौन शान्ति का महान उपासक है और किसकी दृष्टि व हाथ सबसे तेज़ हैं। मृत्यु—सभावित युद्ध के बिना इन गुणों की ठीक ठीक जांच नहीं की जा सकती। मानव के शरीर और उसकी आत्मा का परीक्षण तभी संभव हो सकता है। चाहे आप क्रिकेट खेलें, घुड़दौड मे भाग लें अथवा ताश खेलें, पर इन सब में आपकी चतुरता अन्त तक क़ायम रह सकती है। लेकिन जिस खेल का ख़ात्मा एक ही वार में होता है, उसमें भाग लेने के पूर्व मनुष्य अपनी शक्ति का अन्दाजा अवश्य ही लगा लेता है। बिलियर्ड[1] के डंडे की अपेक्षा तलवार की मूठ पकडने पर मनुष्य की कमजोरी का फ़ौरन पर्दाफाश हो जाता है। सर्वापेक्षा निरन्तर मौत से घिरे रहने पर भी अविचलित जीवनयापन करने की आदत ही सच्चे मनुष्य का निर्माण व परख करने की कसौटी है। फिर भी अन्तिम परख के लिए हमे युद्ध को शरीरसौष्ठव एवं हस्त-दृढ़ता पर ही अवलम्बित करना चाहिए। हमे इस बात को महत्व देने की ज़रूरत नही है कि किसके पास लम्बी बन्दूक है, कौन सबसे बड़े पेड की आड में खडा है, किसके साथ हवा का रुख है, किसकी बारुद सुदक्ष रासायिनिको द्वारा तैयार की गई है, किसके लौह-शस्त्र बढिया फौलाद से बनाये गये है, एव किसके साथ उत्तेजित जनता है। इन बातों पर विभिन्न राष्ट्रो के अथवा पारस्परिक युद्ध का निर्णय करो और समझो कि आपने कोरी हुल्लडबाजी को बढावा दिया है अथवा निर्मम हत्याओं को शह दी है। पर अपने युद्ध को सही जाँच बाहु-दृढ़ता और दिल की मजबूती के आधार पर करो और देखो कि आप कई समस्याओ को सही-सही सुलझाने में समर्थ होते हैं।

१—एक प्रकार का खेल।

उपर्युक्त निर्णय के शेष दो आधार हैं—भौतिक विनाश एव मानव-संहार मे कमी। युद्ध की इस प्रकार प्रशंसा करने से आप यह न समझे कि मैंने विरोधी दलीलो को भुला दिया है। युद्ध विरोधी अधिकांश दलीलें वर्तमान युद्ध पर ही लागू होती हैं। मै खुद ही आपसे पूछता हूँ कि यदि आप मजदूरो के समूहों की सेना बनाते हो, दूसरो के पसीने पर उन्हे जिन्दा रखते हो, उनके हाथों मे नित्य नूतन आविष्कृत घातक मशीने देते हो, खून खच्चर के लिए उन्हे उभारते हो, विरोधी राष्ट्र के समूल विध्वस के लिए तत्पर होते हो, अनिश्चित काल के लिए उसकी सडकें, नगर, जगल व बन्दरगाह उजाड कर बेकार बनाने की भावना रखते हो, और अन्ततः असंख्य नरमुंडो को परस्पर भिडाकर उन गरीबो को गोली का निशाना बनाते हो, और—और लाखो पीडित, चिकित्सा-रहित, भूखे-नंगे काल-कवलित जीवित नरकंकालो को तडप-तडप कर जमीन मे धँसने के लिए लिए छोड़ देते हो, तो फिर आपके इन काले कारनामों की कीमत किस खाते में दर्ज होगी और ताजीरात की कौनसी धारा इस अधम अपराध का दंड निश्चय करेगी?

यह भयानक अपराध!

आपका यह आधुनिक,—वैज्ञानिक, रासायनिक एवं यांत्रिक,—युद्ध बर्बर नर के विषैले तीर से भी तीखा है। फिर भी आप कह सकते हो कि आज इसको छोड़कर किसी दूसरे प्रकार का युद्ध असंभव है। वाह, नित्य नवीन घातक उपायों का अन्वेषण ही शायद विज्ञान की विजय का सूचक है और निर्मम हत्याओं की संख्या ही 'वसुधैव कुटुम्बम्' के धर्म-सिद्धान्त की कसौटी है! ज़रा सोचो कि आदि काल के, विज्ञान की चकाचौंध से अनभिज्ञ मानव किस प्रकार युद्ध करते थे। साथ ही वर्तमान विज्ञान को बहिष्कृत कर अपने धर्म-सिद्धान्तों के साथ प्राचीन

जातियों के व्यवहारों को जोड़कर विचार करो कि आज आपके युद्ध का क्या रूप होना चाहिए। मुलर[1] महाशय कहते हैं—

'विलक्षण धैर्य और मर्यादित शक्ति-प्रयोग ही स्पार्टा के योद्धाओं के खास गुण थे। अरिस्टोडेमस[2] और ईसाडस[3] के अतिक्रमण को प्रशंसात्मक के बजाय हेय दृष्टि से देखा जाता था। इन्ही गुणों के कारण हुल्लड़-प्रिय उत्तर प्रान्त-निवासी बर्बर जातियों[4] से यूनानियों को अधिक सभ्य समझा जाता था। इसी कारण स्पार्टा-निवासी युद्ध के पूर्व सरस्वती को बलि चढ़ाते थे। इस कार्य से युद्ध में शान्ति और व्यवस्था की आशा की जाती थी। इसी अवसर पर क्रीट[5] में भी पारस्परिक सम्मान व प्रेम का रूपक मानकर प्रेम-देवता को भी बलि चढाई जाती थी। युद्ध-

---

१—कार्ल ओटफ्रेड मुलर (१७९७-१८४० ई०)—एक सुविख्यात जर्मन विद्वान थे जिन्होंने बहुत सुन्दर साहित्य (प्राचीन जातियों के साहित्य, व्याकरण, कथाएँ, रीति-रस्मों पर) निर्माण किया हैं। यह उद्धरण उनकी 'डोरियस' नामक पुस्तक से लिया गया है।

२—अरिस्टोडेमस—स्पार्टा का एक सैनिक जिसने थर्मापोली के युद्ध से अपने भागने के कलंक को छिपाने के लिए प्लेटा (Plataea) के युद्ध में भयानक युद्ध किया था।

३—ईसाडस—स्पार्टा का एक सैनिक जिसने थेबनों के विरुद्ध मर्यादा का अतिक्रमण कर युद्ध किया था।

४—इनसे गोथ (Goths) वण्डाल (Vandals) एवं हूण (Huns) जातियों की ओर संकेत है। ये युरोप के उत्तर अर्थात् डेनूब के किनारों व बाल्टिक समुद्र के निकटस्थ स्थानों में बसती थी। वहाँ से चल कर इन्होंने विभिन्न देशों पर आक्रमण किये थे।

५—भूमध्यसागर-स्थित एक टापू।

संकेतक रणवाद्य बजते ही वे सिर पर मुकुट धारण करते थे, सेनाओं की कतारें बँध जाती थी, ढाल और तलवार का प्रकाश सर्वत्र फैलकर उनकी पोशाक के रक्तवर्ण में मिल जाता था। शान से शहीद होना वीर सैनिकों को अपने सर्वोच्च शौर्य-प्रदर्शन के लिए अधिकाधिक बढावे का कारण होता था। युद्ध में वे कभी मर्यादा का अतिक्रमण नही करते थे। क्रोधाभिभूत हो नियमोल्लंघन उनका ध्येय नही था। उनका यह व्यवहार उनके उच्च और उदार स्वभाव का परिचायक है। विजय होते ही शत्रु का पीछा करना छोड दिया जाता था एवं शत्रु की सेना के हाथ टेकते ही सारी शत्रुता बन्द हो जाती थी। विजितो के शस्त्रास्त्रो को लूटना, विशेषतः युद्ध की जारी हालत में, सर्वथा निषिद्ध था और मृत शत्रुओं की लूटी हुई वस्तुओं को देवार्पण करना, जैसा कि साधारणतः विजयोल्लास में संभव है, अमंगल माना जाता था।"

मूर्तिपूजक आदिम योद्धाओं का युद्ध उपर्युक्त ढंग पर होता था। जिसने स्पार्टन सेना को पवित्र मुकुट धारण करते देखा है, उसके पवित्र रण-वाद्य की ध्वनि को सुना है, एवं उसकी दिव्य ताल-संगीतात्मक भाषा से स्वयं को पवित्र व प्रेरित किया है, उससे पूछो कि अमेरिकन फौज की किसी भी युद्ध-तत्पर टुकडी के प्रधान संचालको द्वारा प्रचारित 'क्रिश्चियन' युद्ध की व्याख्या क्या है? प्रतिमा-पूजको के एवं हमारे 'क्रिश्चियन' युद्ध में जीवन का सापेक्षिक मूल्य क्या है इसका अनुमान केवल आप इस बात से लगा सकते हैं कि स्पार्टनों ने कोरिंथ का सफल युद्ध[1] केवल आठ प्राणियों के बलिदान से जीता पर गेटिसबर्ग के असफल युद्ध[2] के विजयी अपने मृतकों की संख्या ३०००० कूतते हैं।

१—कोरिंथ का यह युद्ध ईसा के ३९४ वर्ष पहले लड़ा गया था जिससे स्पार्टा की विजय हुई थी। २—गेटिसबर्ग यह अमेरिका के पेन्सिलवेनिया

२—साम्राज्य-विस्तार के लिए किया गया युद्ध—यह सबसे अधिक प्रचलित है। सर्वप्रथम आप इस बात पर गौर करो कि राजाओं के लिए 'साम्राज्य-विस्तार' का क्या अर्थ है। फिर हम राष्ट्रों की बात करेंगे।

मेरा यह निश्चित मत है कि मानव-स्वभाव निम्न व पतित होने की अपेक्षा उच्च व दिव्य है। राजा हो या प्रजा दोनो के सम्बन्ध में बोलते समय मै इसी मत के आधार पर बोलता हूँ। मानवों के सम्पूर्ण पापो को मैं उनके स्वभाव की अपेक्षा उनकी बीमारी समझता हूँ। दूसरे शब्दो में पाप मनुष्य की नादानी से उत्पन्न वे हरकतें है जिन्हे दूर किया जा सकता है। वे आवश्यकताजन्य स्वाभाविक घटनाएँ नही है। घोरतम

मानव तत्त्वत. अच्छा है!

पतन होने पर भी मानव-स्वभाव कितना उच्चतम हो सकता है, इसकी कल्पना नही की जा सकती। 'वह उच्च है' यह जानकर भी मैं तो सदा उसे अपनी धारणा से भी ऊँचा पाता हूँ। उसे 'निम्न' मानने वाले उसे निम्न ही पायेंगे और वह भी अपनी धारणा से भी अधिक। सच तो यह है कि वह 'अनन्त' है और ऊँच-नीच के अनन्त छोरों पर चढ-उतर सकता है। पर मेरे साथ आप भी विश्वास कीजिए और मानिए कि वह स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है न कि पतनोन्मुख।

कल्पनातीत अवस्था में मेरे इस विश्वास को जाँचिए। 'लंडन'[1] नामक जहाज़ के कप्तान ने जब अपने साथियो को यह कहकर विदा किया

प्रदेश का ऐक नगर है। गेटिसबर्ग का यह युद्ध सन् १८६३ ई० में उत्तरी अमेरिकन युद्ध के समय हुआ था।

१—'लंदन' नामक जहाज की कहानी बड़ी करुण है। यह सन् १८६५ में बिस्के की खाड़ी में डूब गया था। इसमें केवल एक जनरक्षक डोंगी थी जिसमें थोड़े से आदमी बैठ सकते थे। इसके कप्तान ने उस डोंगी पर बैठने से इन्कार

कि 'दोस्तो, जाओ, ईश्वर तुम्हे सानन्द पार करे ! मै तो अपने यात्रियों के साथ ही डूबूगा', तभी उसने मानव स्वभाव का सच्चा परिचय दिया। मै तो इसे ऐसा ही मानता हूँ। उसका यह कार्य किसी धर्म-भावना से, फलेच्छा अथवा दंडभय से अभिप्रेरित नही है। वह ऐसा करता है क्योंकि वह मनुष्य है। दूसरी ओर एक माँ अपने नन्हे-से शिशु को कमरे मे घुटने के लिए छोड कर बाहर लम्बी-लम्बी बाते बघारती फिरती है। क्या यह मानव-स्वभाव है ? कदापि नहीं। संक्षेप मे, आपके सम्मुख दो कल्पनातीत घटनाएँ उपस्थित की गई है। उपस्थित मानवों और माताओ, मै आपही से अब सवाल करता हूँ कि इन दोनो मे से कौनसी मानुषिक है और कौनसी अमानुषिक, कौनसी प्राकृतिक है और कौनसी अप्राकृतिक ? अपने मत का तत्काल निश्चय करो, अडिग निश्चय करो और सदा के लिए निश्चय करो। क्या आप अपने कर्म एव आशा का आधार इस विश्वास को बनाओगे कि यह मानव (जहाज का कप्तान) अपनी स्वाभाविक आदि दशा मे था अथवा यह स्त्री (निर्मम माता) अपनी स्वाभाविक आदि दशा में थी ? पूर्व सस्कारो की बात छोड दीजिए। आप तो यह बताइए कि उन दोनों मे से कौन अपने वर्तमान संभाव्य एवं सत्य-स्वभाव से पतित हुआ है ?—किसने उसके साथ विश्वासघात किया है—उसे झूठा ठहराया है ? क्या स्वाश्रितो के हेतु जान देने वाला वह सरक्षक अमानुषिक मौत से मरा अथवा मूर्खो की तरह वह अपनी जान पर खेल गया और क्या उस स्वशिशुघातिनी माता ने अपने मानवी नियम का पालन किया ? इसीलिए कहता हूँ कि अपना मत स्थिर कर लो, इसी पर असख्य मतो का निश्चय निर्भर है। सदियों से आप झूठे धर्म-

---

कर दिया और अपने अन्य साथियों को उस पर बिठा कर स्वय जहाज के साथ डूब गया।

प्रचारकों के हाथों खेल रहे थे; सजग करने पर भी उनसे आप सदा बेखबर रहे। इन पाखंडियों ने सदा आपको यह कहकर बर्गलाया है कि मनुष्यमात्र राक्षस अथवा भेडिये—आधे पशु व आधे पिशाच है। यदि आप इस पर विश्वास करोगे तो वैसे ही बन जाओगे। पर इसे मानने से साफ इन्कार कर दो। सदा यह विश्वास रखो कि परमात्मा ने तो आपको सीधा-सच्चा इन्सान बनाया है पर स्वयं आपने विपरीताचरण की कई नवीन धारणाएँ गढली है। अतः आप सदा परमात्मा के पथ पर चलने के लिए कटिबद्ध रहोगे। परमात्मा भी यही चाहता है कि आप उसके पथ का अनुसरण करो। इसीलिए वह आपको निरन्तर शक्ति देता है। आप को भी चाहिए कि इन उद्‌गारो के साथ कि "हम अपने धर्माचरण पर दृढ हैं एवं प्राण रहते उसे कभी न छोडेगें" आत्म-ज्ञान प्राप्त कर जीवन को उच्च और महान् बनाओ।

उपर्युक्त दोनो बातो में जो आप को प्रिय लगे उसे चुन लो। इस विषय मे न तो आप के निर्वाचन और न सोचने के लिए कोई बात ही है। तथ्य की बात तो बिल्कुल स्पष्ट है। यह ध्रुव सत्य है कि सर्वोच्च जाति का मानवता-परिपूर्ण प्राणी सदा उदार और सत्य-प्रिय होता है। ज्यों-ज्यों उसकी जाति का पतन होता जाता है उसमें भी निर्दयता और असत्य की वृद्धि होती जाती है। यह क्रम सदा जारी रहता है। अत. प्राकृतिक मानवता की उपर्युक्त शक्ति को जानकर, उसको उन्नत करना शिक्षा का पूर्ण ध्येय मानकर एवं सत्य के लिए उच्च कुलोत्पन्न मानव के महान आत्म-त्याग को ध्यान में रख कर हम स्वप्न में भी यह नही सोच सकते कि सुशिक्षित नरेन्द्रगण, जिन्हें भद्रो में महाभद्र एवं उदारो मे महा उदार होना चाहिए, और जिनके राजचिह्न प्राणी मात्र के प्रति न्याय के द्योतक हैं, किस प्रकार इतिहास के आरम्भ से ही निर्धन

जनता और ` न्यांय के विरुद्ध रहकर—प्रजा पर जुल्म ढाकर और न्याय का गला घोट कर—अपनी और अपने हितो की रक्षा करते आये हैं ! 'राजभक्ति' का ठीक-ठीक अर्थ है—"कानून के प्रति सचाई"। पर उसका प्रयोग राजा की अधिकाधिक प्रजाभक्ति को छोडकर केवल प्रजा की राजभक्ति के अर्थ में क्योंकर प्रकृत माना गया है ? कैसे यह संभव है कि उस जहाज का एक साधारण कप्तान तो अपने यात्रियो के साथ जान देने में तत्पर होकर अपने साथियो की उस डोंगी को किनारे की ओर ढकेलता है, पर एक राजा, प्रजा के लिए मरना दूर रहा, साधारणतः उसके साथ मरने में भी जी चुराता है और आकांक्षा तो रखता है कि यह यात्री रूपी प्रजा अपना कर्त्तव्य समझ कर उसके लिए अधिकाधिक संख्या में प्राणोत्सर्ग करे ?

राजभक्ति बनाम प्रजाभक्ति

इस आश्चर्य पर ज़रा ध्यान दो। जहाज का वह कप्तान, दैवी अधिकारासीन नही- पर कोरा कम्पनी का वेतनभोगी कप्तान, राजकुलोत्पन्न नही पर एक साधारण मल्लाह, दुनिया की आँखों का तारा नही, प्रसिद्धि-हीन—जिसके नाम का दुनिया तक पहुंचना केवल एक क्षुद्र डोंगी के अनिश्चित आधार पर आश्रित है, स्वकार्यों से राष्ट्र का भाग्यविधाता नहीं, पर इतना सामर्थ्य-हीन कि डूबते हुए लोगों में से एक बच्चे को भी बचा सके जिसके साथ खुद डूब मरा, जहाज में बैठे कुछ परदेशी यात्रियों के साथ विश्वासघात करने की अपेक्षा हँसते-हँसते अपनी बलि चढाता है। दूसरी ओर आपका यह दैवी अधिकार-प्रसक्त कप्तान है, जिसके वक्षस्थल पर सैकडो नृपतियों की ढालों का रंग लहरा रहा है, जिसका प्रत्येक सत असत कर्म प्रजा की अपलक आँखों में सदा के लिए चकाचौंध पैदा किये बिना नही रह सकता, जिसके प्रत्येक नित्यघटित शुभाशुभ विचार और

वह कप्तान और यह राजा !

कर्म सूर्य-प्रकाश की तरह आनन्ददायक एवं रजनी की तरह छायामय है, और जिसका चित्र इतिहास के प्रत्येक पृष्ठपर पर सदा अपनी यात्रीरूप प्रजा को चूसने व रंगमहलो में रंगरेलियाँ करने की उधेड़बुन में लगे रहने के रूप में अंकित है।

यदि असंख्य प्रजा के प्रजापति के हृदय में किसी भी छोटी-मोटी कम्पनी के सभ्य और विचारशील मालिकों की तरह अपने शासितों के प्रति भलाई करने की थोड़ी-बहुत भी सद्भावना हो तो न केवल शक्ति-विस्तारार्थ किये गये युद्ध का ही सदा के लिए अन्त हो जाय बल्कि हमारी शक्ति-सम्बन्धी भावना में भी आमूल परिवर्तन हुए बिना नहीं रहे। क्या आप यह मानते है कि एक व्यक्ति के लिए दस लाख आदमियों का ख्याल रखना, उनकी फर्यादें सुनना, उनकी कमजोरियों को दूर करना, उनकी बुराइयो को रोकना, उनके लिए कानून बनाना, एवं नित्य उन्हें पवित्र जीवन-यापन के लिये प्रेरित करना पर्याप्त नहीं है? यदि हममें से कोई सौ वर्गमील वाले किसी भी एक लम्बे-चौड़े जिले का सर्वाधिकारी होता, शक्तिभर उसके हित के लिए अपने को खपा देता, अधिकाधिक लोगों का भरण-पोषण सहज बना देता, ज़र्रे-ज़र्रे को उप-जाऊ, टीले-टीले को रक्षक और मानव-मानव को सुखी बना देता तो क्या हम पर यह भार आपकी दृष्टि में किसी तरह कम होता?

साम्राज्य-विस्तार बनाम शक्ति-विस्तार

परन्तु यदि शासक का इसके अतिरिक्त कोई ध्येय है, परिणाम की पर्वाह न कर कोरी अड़ंगा नीति ही उसे पसन्द है, भले-बुरे का ध्यान न रखकर हर काम अपने इशारे पर करवाने का भूत उस पर सवार है और भलाई की अपेक्षा अधिकाधिक बुराई करने पर ही वह तुला हुआ है, तब तो वह अवश्य साम्राज्य-विस्तार—असीम विस्तार—

करने में कामयाब होगा। पर इससे क्या वह अपना शक्ति-विस्तार भी करता है? यदि किसी बालक को भीमकाय इंजिन के पहियो और पट्टो के साथ खुल कर खेलने के लिए छोड दिया जाय और उस समय तक जब तक कि उसका मूर्खतापूर्ण स्पर्श निषिद्धस्थल पर जाकर उन पहियों और पट्टों को टुकड़े-टुकड़े होने के लिए न छोड दे,—तो क्या इसे आप उस बालक की शक्ति कहेंगे? फिर मैं आप से ही पूछता हूँ कि राष्ट्र के दिमाग को छोडकर कौनसी दूसरी दुर्भेद और विशाल मशीन है और एक स्वार्थी शासक की आज्ञा को छोडकर कौन से शिशु का स्पर्श अधिक चंचल है? यह होने पर भी मानव-जन्य आपत्ति की लम्बी-लम्बी कहानियो को उसके गर्व का न्यायोचित कारण बताकर और महत्तम भूल के मूल चक्र उस मानव को सर्वोत्तम शासक कहकर उसका गुणगान करने के लिए कितने समय से हमने इतिहासज्ञ को खुला छोड रखा है? ध्यान से विचार करने पर आपको पता चलेगा कि शक्ति—पूर्ण शक्ति—सदा बुद्धिसंगत और लाभप्रद है। गतिशील अग्निपोत मे नौ सेना को नष्ट-भ्रष्ट करने की शक्ति संभव हो सकती है, लाश मे सारे राष्ट्र को कुंठित करने योग्य विष हो सकता है, पर आप में कौन ऐसा सर्वाधिक महत्वाकांक्षी प्राणी है जो ज्वलिताग्नि शिखासज्जित अथवा विषाक्त स्पर्श मारण राजदंड मंडित गतिमय राजत्व को पसन्द करेगा? याद रखो कि दूसरों की सहायता को छोड़कर न तो कोई दूसरी शक्ति है और न पर-रक्षा के अतिरिक्त कोई दूसरी महत्त्वाकांक्षा ही है।

पर-रक्षा की सच्ची शक्ति जनसंख्या अथवा साम्राज्य-विस्तार पर निर्भर नहीं है। हम तो सदा यही मानते आये हैं कि किसी भी राष्ट्र की शक्ति उसकी जनसंख्या पर निर्भर होती है। पर यह तभी

संभव है जब सम्पूर्ण जनसंख्या का दिल और दिमाग़ एक हो। यहाँ एक सवाल खडा होता है। आप यह कैसे मान सकते हैं कि वे सदा एकमन रहेगे? मान लो कि उनमें विरोध नहीं है। पर आप यह कैसे जान सकते हैं कि वे एकमन हो सदा भलाई ही करेंगे? यदि वे बुराई करने में एकमन हैं तब तो ऐसे मनुष्यो की किसी राष्ट्र मे जितनी ही अधिक संख्या होगी उतने ही वे कमज़ोर होकर उस राष्ट्र को भी ले डूबेगे। अब थोडी देर के लिए कल्पना करो कि न तो वे एक 'दिमाग़' ही है और न 'दो'—उनके कोई दिमाग़ ही नही है, वे तो कोरे मूक प्राणी हैं, पटरीच्युत रेल के डब्बे मे भरे कंकड-पत्थर की तरह, विपत्तिग्रस्त हो यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं, तब तो अवश्य ही वे शक्तिशाली होने की अपेक्षा अपने पडोसियों के लिए काल-स्वरूप हैं।

सच्ची शक्ति का स्रोत

इसी प्रकार शक्ति साम्राज्य-विस्तार पर भी निर्भर नही है। संसार के मान-चित्र पर दृष्टि डालो। उसमे ग्रेटब्रिटेन के ढेले को दक्षिण अमेरिका के ढेर के पास रखकर सोचो कि क्या किसी मानवजाति के लिए यह शोभा की बात है कि वह आधी ज़मीन पर खडी है? सच्ची शक्ति का स्रोत तो स्वय मनुष्यो में है; उनके खडे रहने के कमरे की अपेक्षा उनके ऐक्य और उनके सद्गुणो मे है। विवेकपूर्ण लोगो का छोटा-सा दल असंख्य मूर्खों के जगल से अच्छा है; और जिस राष्ट्र ने अपने स्वरूप को पहचान लिया वही सच्चे साम्राज्य को पाने का अधिकारी है।

साराश यह है कि राज्यो की शक्ति का चढाव-उतार दया और न्याय के अनुपात के आधार पर अवलम्बित है। जनसख्या की वृद्धि से अथवा दूसरे देशों को हड़प कर कोई भी राष्ट्र शक्तिशाली नही हो सकता। अमेरिका को हथिया कर भी हम शक्तिशाली नहीं हुए; दूसरे देशो को

हथियाने की बात जाने दीजिए। फिर भी अपनी ही छाती पर टिड्डियो की तरह बढनेवाली जनसंख्या को देखकर किसी भी राष्ट्र को गर्व नही करना चाहिए। प्रेम और भ्रातृत्व को अपना कर एक विशाल कुटुम्ब की तरह अपनी वृद्धि करने मे ही उस राष्ट्र की सच्ची शक्ति वर्तमान है। निदान उन जातियों को गुलाम बनाकर जिनकी वह भलाई नही कर सकता वह कभी भी शक्तिशाली नही हो सकता। लोम्बार्डी[1] को गुलाम बनाकर आस्ट्रिया की शक्ति बढ़ने के बजाय घटी ही है। हिन्दुस्थान को हथिया कर ब्रिटेन के मान और वैभव मे प्रगटरूपेण कितनी ही वृद्धि क्यो न हुई हो, पर केवल इतके आधार पर ही वह अपनी शक्ति के विस्तार को नही नाप सकता। वह तो ॲंग्रेजो के भारतीयो के ऊपर पड़े हुए उच्च और सत्प्रभाव के मापदंड से ही नापा जा सकता है। जिस प्रकार कोई भी जाति अपने को खतरे मे डालकर शक्ति-लोलुपता के कारण साम्राज्य-विस्तार पर उतारू होती है, उसी प्रकार उसकी सहायता अपेक्षित होनेपर भी जो जाति अन्यायमूलक युद्ध के विरुद्ध अपनी आवाज़ नहीं उठाती, वह अधिकाधिक ख़तरा मोल लेती है। उसके इस झूठे तर्क को कि 'उसे यह मालूम ही नही हो सकता कि कब उसकी सहायता की ज़रूरत है और कब नहीं' हमे मानने से इन्कार कर देना चाहिए। अपनी राष्ट्रीय मनोवृत्ति को शुद्ध रखो, आपकी राष्ट्रीय आँखे स्वय ठीक हो जायँगी। सच्चे युद्ध में भाग लेने वाले से यह छिपा नहीं रहता कि किसे और किसलिए उसकी सहायता की ज़रूरत है। गत दस सालों के ब्रिटेन के इतिहास को देखकर मैं यह कहे बिना नही रह सकता कि

१—इटली का एक प्रान्त जिसे सन् १८१५ में नेपोलियन को हराने के बाद आस्ट्रिया ने बाँट खाया था। पर बाद में वह उससे भी निकल गया और आस्ट्रियास्वयं हिटलर का गुलाम बन गया।

अंग्रेजों ने, वीर कौम होते हुए भी अपनी वीरता को लजाया ही है। जहाँ युद्ध की आवश्यकता न थी वहाँ अपनी स्वार्थ-साधना के लिए हम लड़े और जहाँ आवश्यकता थी वहाँ डर से हमने अपना मुँह छिपाया। तटस्थता की यह नीति, जिसका आज खूब प्रचार हो रहा है, अधम साम्राज्य-लोलुपता की तरह बर्बर और स्वार्थमय है। वह यदि घातक है तो यह घातक के साथ-साथ कायरता-प्रदर्शक भी है।

३—आत्मरक्षा के लिए किया गया युद्ध—यह युद्ध जन्मभूमि की रक्षा और कानून के शांतिपूर्वक पालन के हेतु किया जाता है। अधिकांश सैनिको के हृदय में कर्तव्य का यही भाव रहता है। आत्मरक्षा के नियम एवं सैनिकों का आज क्या कर्त्तव्य समझा जाता है, इसी विषय पर अब मैं बोलूँगा। उपस्थित सैनिको, आपने भी देश पर उसके रक्षक के रूप में अपने-आपको अर्पित किया है। आपकी इस प्रतिज्ञा का सच्चा अर्थ क्या है और आज क्या समझा जाता है, इस पर ज़रा विचार कीजिए।

सर्वप्रथम आप इस प्रतिज्ञा को भावुक विद्यार्थी अवस्था में ग्रहण करते हो। स्कूल जाने वाले विद्यार्थी की तरह आप भी सैनिक विद्यालय एव बारिकों में प्रवेश करते हो। पर उस अवस्था मे आप दोनों ही अपने कर्त्तव्य से अनभिज्ञ रहते हो। आप क्या करने जा रहे है, आप को भान नहीं रहता। पर आपकी भावी उन्नति का आधार यही विद्यार्थी अवस्था है। आपको मैंने 'भावुक विद्यार्थी' क्यो कहा, इसे आप नही जानते। इसका कारण यह है कि साहस, जोश, सुन्दर वस्त्र, यश, गौरव आदि का प्रेम ही, जो पूर्णतः भावुक उद्देश्य है, आप को व्यापार की अपेक्षा सेना में भर्ती होने के लिए प्रेरित करता है। शायद आप सोचते हो कि इन भावुक बातो में कर्त्तव्य का दृढ़ भाव झलकता है। हाँ, कर्त्तव्य-परायण लोगो में यह भाव हो सकता है;

कर्तव्य-पालन

पर प्रधान रूप में नहीं। अपने देश के प्रति यदि आप आडम्बरहीन एवं बुद्धिसंगत तरीकों से कर्त्तव्य-पालन करना चाहते हों तब तो आप के कर्त्तव्य का सच्चा रूप उसे नष्ट कराने के बजाय खेती-बाड़ी करने में है; बमों से उड़ाने की अपेक्षा अधिकाधिक भवन निर्माण करने में, करों को लगाकर दूसरे के परिश्रम पर गुलछर्रें उडाने और मानव-हत्या करने के लिए धन बटोरने की अपेक्षा जनहित के लिए खरी कमाई करने मे, और अन्ततः सच्चाई से निःस्वार्थ हो जीवन-त्याग, जो आपकी भावुक आँखों में वीरता की सर्वोत्तम पहचान है, की अपेक्षा सच्चाई से स्वार्थरहित जीवन-यापन करने मे है। इसलिए जहाँ तक आप अपनी और अपने बंधुओं की मानरक्षा के लिए वीर जीवन की अपेक्षा वीर मृत्यु को गले लगाते है, आप भावुक हैं। अब ज़रा अपनी भावुक प्रतिज्ञा का परिणाम भी देखिए। थोडी देर के लिए मान लो कि आप घोड़े पर चढ़कर सिंहों या बर्बर लोगो को मारने चले; उन पर गोली दागते हो और खुदही निशाना बन जाते हो; बस आपकी खुशी का बाँध टूट जाता है, आप फूले नहीं समाते; यदि मर गये तो आप के लिए आँसू बहाये जाते हैं और आप का खूब सम्मान किया जाता है; आप भी अपने जीवन से और उसके इस अंत से संतोष पाते हैं; क्योंकि आप समझते हैं कि आप को भी खूब खुशी हुई और साथही दूसरों को भी दुःख के बजाय सुखही हुआ।

पर ज्योंही आप के विकसित मस्तिष्क में कर्त्तव्य के ज्ञान के बीज जमने लगते है, आप की यह प्रतिज्ञा भी दूसरा रूप धारण कर लेती है। आप को ऐसा लगता है मानों आपने स्वयं को शस्त्र की तरह अपने देश को सौंप दिया है। तलवार की तरह उसके इशारे पर आप वार करते हैं और उसके इशारे पर ही म्यान में बंद रहते हैं। दूसरे शब्दों में आप का तो यही काम है कि उसके हाथों में जमे रहें। पर यह तभी

अच्छा है जब कि आप को पकड़ने वाले 'दिल' और 'दिमाग' पर आप को विश्वास है और इतना अधिक कि यदि वह आप को म्यान में रखता है तो समझो कि आप की चमक की बाहर ज़रूरत नहीं है। यह बात कितनी ही बड़ी और सुन्दर क्यों न हो पर निदान है तो गुलामी की अवस्था। गुलाम और मालिक भी कई तरह के होते हैं। कुछ गुलामो को हंटर मार-मारकर और कुछ को उभार-उभार कर काम पर लगाया जाता है। हंटर क्या है, इसे कोई नही पूछता। यह भी हंटर से कम नहीं है क्योकि अपनी आत्मा को काट-काट कर आपने इसकी रस्सी बनाई है, कारण गुलामी की इस अवस्था में आप बिना विचारे केवल दूसरो के इशारे पर नाचते है। कुछ कोरी प्रशंसा और पैसे के बल खरीदे जाते हैं। पर 'मूल्य' को कोई नही पूछता। गुलामी की सच्ची पहचान ही मूल्य देकर खरीदा जाना है। काम क्या करना है, इसे भी आप नही पूछते। कुछ बलात् खानों में ठूँसे जाते हैं, परेट मे फाँदे जाते हैं, और कुछ खेत, मैदान और कब्रे खोदते है। कुछ गन्ने के, कुछ अंगूर के और कुछ मानव के 'रस' को खींचते हैं। हरेक काम का फल अलग होता है, फिर भी जिस किसी काम में आप को जोता जाता है उसमे गुलामी का मूल तत्व तो एकही रहता है।

दास मनोवृत्ति

इस प्रकार किसी भी मालिक की गुलामी करने की प्रतिज्ञा लेने के पूर्व इस बात पर विचार करना परमावश्यक है कि वह हमसे क्या काम लेगा। आप कहेगे कि सैनिक अपने काम में स्वतन्त्र नही है, उसका काम तो अपने उस मालिक (देश) की आज्ञा मानना ही है[1] जिसे वह अपनी पीठ पर समझता है। पर मैं पूछता हूँ कि क्या आपकी

1—"Theirs not to reason why,
Theirs but to do and die"—Tennyson.

पीठ पर आप का 'सारा' देश है अथवा जो भाग है क्या वह उसका सर्वोत्तम अंश है ? क्या यह सम्भवनहीं है कि आप ही अपने देश के सर्वोत्तम अंश हैं ? आप को ही गुलामी के पट्टे धारण करने की अपेक्षा मालिक की गद्दी परबैठना चाहिए था और जो आज आप के मालिक हैं उन्हें गुलाम होना था ! जिसके इशारे पर आप का क़दम बढता है, वह यदि उदार और एकात्म स्वदेश है, तब तो कोई बात नहीं; पर यदि आप स्वयं उसके कलेजे के सर्वोत्तम टुकडे हैं और आपकी पीठ पर धडकते दिल वाला स्वदेश है, तब फिर आपके पास आप की आज्ञाकारिता के लिए क्या सफाई है ? बनिये बनने में आप का मान घटता था; पर क्या बनियों के गुलाम होने मे आपको संतोष है ? व्यापारी या किसान बनना आपने अपनी शान के खिलाफ समझा; पर क्या आज व्यापारियो और किसानो को अपने 'सर' पर देखकर आप खुश हैं ? आप स्वयं को अपने देश की सेना समझते हैं, पर अन्ततः आप अपने को उसके विशाल औद्योगिक शहरों और गिरजों की कोरी पुलिस पाये तो कैसा हो ?

आप ही मालिक क्यों नहीं !

अभी न ऐसा हुआ है और न भविष्य में होगा। पर मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि कोरा मूक आज्ञापालन या शौर्यप्रदर्शन ही सैनिकत्व का आदर्श नही है और भी—वह देश जिसने अपनी फौज़ी और नागरिक शक्ति को थोडा-बहुत भी पृथक कर दिया है, कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। दुनिया का कोई भी देश, कितना ही बड़ा क्यो न हो, पर किराये के टट्टुओं की सेना के बलपर ज़िन्दा नहीं रह सकता। वह गिरेगा और गिरकर रहेगा। तत्काल घातक न होते हुए भी (क्योंकि यह कायरता के राष्ट्रीय कलंक से बरी है) यह ऐसी भूल है जिसका अन्त घातक हुए बिना नहीं रह

केराये के टट्टू न बनो

सकता। खासकर यह वर्तमान काल की भूल है जिसके सम्पूर्ण घातक अवयवों से अभी हम परिचित नही हुए हैं और न हो सकते हैं। राष्ट्र के सर्वोत्तम रक्त और बल को—उसकी आत्मा के सारभूत वीर, निर्लिप्त, दुःखदर्द विमुख और नमकहलाल अंग को अपहरण कर उसकी कोरी फौलादी तलवार बनाना, उसकी आवाज़ और इच्छा को दबाना, पर उसके (राष्ट्र के) निकृष्ट—कायर, लोभी, कामी और नमकहराम—अंग को जीवित रखना, बुद्धिहीन होने पर भी उसका कहा मानना, उसके हाथो में शासनसूत्र और विशेषाधिकार देना आदि इसके भयंकर परिणाम हैं। आपकी अपने देश की रक्षा की प्रतिज्ञा की पूर्ति इस प्रकार की शासन-प्रणाली को चलाने मे नही है। यदि आप केवल अन्दर बैठकर ठगी करने वाले व्यापारी बच्चो की रक्षा के लिए उनकी दुकान के दरवाजो पर पहरा देने मे अपना कर्त्तव्य समझते हैं, तब तो आप सच्चे सैनिक नहीं हैं। एक सैनिक की अपने देश के लिए सच्ची प्रतिज्ञा तो यह है कि वह उसके घरेलू गुणों, सच्चे कानूनो और संकटग्रस्त सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राणों की वलि चढाये। सद्गुण, अच्छे कानून और सम्मान-रहित राज्य की रक्षा के लिए वह वाध्य नही है; इसके विपरीत तो उसका यह कर्त्तव्य है कि शक्तिभर अपने देश के दूषित अंग को काट फेंके। प्रकृति और जीवन का यह इतना कठोर नियम है कि एक बार पूर्ण पतित हो जाने वाले देश का कल्याण कोरी स्पीचे झाडने अथवा अन्य स्वतन्त्र मानवी उपायो का सहारा लेने की अपेक्षा केवल फौज़ी एकतंत्रवाद पर निर्भर रहता है। किसी भी राष्ट्र के स्वस्थ होने के लिए यह परमावश्यक है कि उसके बुद्धिश्रेष्ठ व्यक्ति बलश्रेष्ठ भी हों, उसके शासक सैनिक हो, अथवा तलवार से अधिक बुद्धि-वल पर आश्रित उसके सैनिक शासक हो। युद्ध में अग्रगण्य होने के कारण आप के

देश के दिल पर एकतंत्रवादियों का कितना ही प्रभाव क्यो न हो पर उसके विचारों के अग्रदूत हुए बिना यह प्रभाव बिल्कुल निकम्मा है। कल की बात जाने दो पर आज तो आप के देश के विचार एक सुयोग्य नेता का संचालन चाहते हैं। क्या आप जानते हैं कि श्रम के इस विचित्र विभाजन से (वीर तो लड़े पर कायर सोचे) आज आप के देश के विचार कितने गिर गये हैं? जनता के वर्तमान विचारो के प्रतिनिधि एक पत्र ने "हमारा राजनैतिक प्रभुत्व",—"हमारा सामाजिक कल्याण" —"हमारा विशाल जीवन" आदि शीर्षक देकर सम्पादकीय टिप्पणी लिखी है। उसकी राय उद्धृत करने के पूर्व मै आपही से सवाल करता हूँ—बताइये वह किस पर निर्भर है?—क्या हमारे पूर्वजो की युग-युग में दी गई शिक्षा एवं उनके कार्यों पर?—नही, उन पर भी नही। क्या हमारी कर्त्तव्य-परायणता पर, मन की स्थिरता पर अथवा इच्छा शक्ति की दृढता पर?—नही, उन पर भी नही। क्या हमारे विचारको, राजनीतिज्ञों, कवियों, सेनानायको और शहीदो पर अथवा निर्धनों के एकान्त परिश्रम पर?—नही, उनपर भी नहीं। वह पत्र-सम्पादक कहता है— "सर्वाधिक हमारे कोयले के सस्तेपन और उसकी अधिकाधिक उपज पर!"[१] यदि यह बात है तो समझो कि हमारे राष्ट्रीय जीवन का अन्त निकट भविष्य में अवश्यम्भावी है।

परन्तु यदि आप अपने देश को पुनः स्वर्गिक सुरभि से सौरमान्वित पूर्ण करना चाहते है, और उस मुर्दे की तरह जिसका उदर कोयले के तेजाब से सूज गया है (राष्ट्र-पक्ष में उत्कर्षावस्था) सड़ने के बजाय

१—एक दूसरे लेखक का भी कहना है—

"Civilisation is the economy of power, and English power is Coal Born."

उसके शरीर में पुनः आत्मा को स्थापित करना चाहते हैं, तब तो अवश्य ही अपने देश के सम्बन्ध में सोचिए, असकी समस्याओं को समझिए और साथ-साथ उसकी रक्षा के लिए युद्ध भी कीजिए। उसमें इस भाव को जाग्रत कीजिए कि 'उसका सारा सच्चा उत्कर्ष तभी हुआ जब उसके खेत हरे-भरे थे और उसके मुखमंडल पर पसीने की बूँदे झलकती थी। आज भी वह, बिना धरती को पोली और आकाश को धूमिल किये उसी उत्कर्ष को पा सकता है। यदि कभी उसके मान को मिट्टी में मिलने की घडी आयगी, तो कोयले की धूल को चीर कर उसका मस्तक अधिक ऊँचा न उठ सकेगा।' अब समय आ गया है कि आपके देश के लिए आप सैनिक ही उसके सर्वोत्तम शिक्षक और आपकी सेना के नायक उसके भी दिमाग के नायक होंगे।

देश की आत्मा की रक्षा कीजिए

हे सैनिक युवको, यदि आप के देश की कोई 'भावी आशा' है तो वह आप ही है। आपके वर्तमान जीवन पर ही आपके सम्पूर्ण भावी विश्वास की योग्यता निर्भर है। कोई भी वृद्ध योग्य सैनिक अपनी जवानी में विचारहीन या लापर्वाह नही रहा है। कई मन्दमति उद्दंड युवक अच्छे धर्मोपदेशक, कानून के प्रकांड पंडित और सफल व्यापारी हुए हैं, पर उनमें से एक भी अच्छा सेनापति नही हुआ है। मै आप से ही पूछता हूँ कि इतिहास के पन्ने-पन्ने को उलट कर मुझे कोई भी अच्छे सेनापति का चरित्र बताओ, जो अपनी जवानी में गभीर और कर्मण्य न रहा हो। मैं 'यौवन की विचार-विहीनता' के गीतों को बर्दाश्त नही कर सकता, पर यदि कोई बुढापे के बुढभस की गाथा गा-गा कर उसकी लापर्वाही का कच्चा चिट्ठा खोले तो मैं उसे खुशी-खुशी सुन सकता हूँ। जब एक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को पूरा कर भाग्य के साथ अठखेलियाँ

कर चुका है, तब तो उसे भरपेट कर्त्तव्य की छाती पर भाग्य के साथ खिलवाड़ करने दो। पर जब भावी भाग्य की प्रत्येक जोखिम उसके निश्चयों पर लटकती है, तब उसका बुद्धि-चांचल्य किस तरह क्षम्य हो सकता है? युवक विचारहीन!— जब उसका सारा सुख क्षणिक अवसरों पर अवलम्बित होता है!—उसके सम्पूर्ण जीवन का निर्माण उन अवसरों का मुखापेक्षी है!!—और—और उसका प्रत्येक कर्म भावी आचरण की नींव का पत्थर एवं प्रत्येक कल्पना जीवन अथवा मृत्यु का निर्झर है!!

यदि अब आपने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि आप अपने जीवन के इस प्रभात को व्यर्थ खोने की अपेक्षा उसका सदुपयोग करेंगे, तब तो आप के अपने देश के प्रति कर्त्तव्य को मैं निम्नलिखित दो शब्दों में प्रकट करूँगा—१—श्रम और २—सम्मान। श्रम को मैं पहले इसलिए लेता हूँ कि हमारे अधिकांश सैनिक युवक इससे ज़रा घबराते हैं। हे सैनिको, जीवन को क्षणिक समझ कर उसे असावधानी से बर्बाद करना आप को शोभा नहीं देता। आप के पेशे की भी यह माँग नहीं है कि कोरा शक्ति-सम्पादन करो और दिमाग को कमजोर रखो। आपके जीवन की अनुभूति-कठोरता और कर्मण्यता दूसरों की अपेक्षा आपकी विचार-शक्ति को अधि-काधिक स्पष्ट बनाते हैं। दूसरे लोगो के लिए ज्ञान-सम्पादन सुख के साधनों से कुछ ही अधिक होता है पर ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो एक सैनिक को जीवन और मृत्यु के मसलों को सुलझाता हुआ न दिखाई दे। एक गणितज्ञ रेखाओं को खीचने में भूल कर सकता है पर एक सैनिक का युद्धस्थल में यही व्यवहार हजारों जानों के लिए घातक सिद्ध होगा। आप का आरोग्य-प्रद जड़ी-बूटी का ज्ञान सेना की रसद में सहायक हो सकता है और भूगोल के गूढ़ प्रश्नों की आप की जानकारी युद्ध विजय का

तुम्हारी भूल भयंकर होगी

कारण हो सकती है। अतः आपको एक पल भी व्यर्थ न खोना चाहिए। प्रमाद का पाप दूसरों की अपेक्षा आप के लिए हजार गुना अधिक है। जो युवक एक दिन आप के अधीन होंगे, उनका भाग्य आप के ज्ञान पर लटकता है। आज का खोया हुआ आप का एक-एक क्षण उस समय एक-एक जीवन के नाश का प्रतीक होगा। प्रमाद-पूर्ण आमोद-प्रमोद में व्यय होने वाले प्रत्येक पल को आप खून से खरीदते हैं।

पर समय नष्ट करने का एक सबसे निकृष्ट तरीका है जो समय के साथ-साथ आप के उत्साह और लगन को भी नष्ट करता है। सारी जंगली आदतों में, जिनका तुम शिकार होते हो, सर्वाधिक जंगली 'जुआ खेलने एवं उसमें तत्पर रहने' की आदत है। और व्यसन के सारे लक्षण इसमें मौजूद हैं। इसमें तुम सच्चे ज्ञान से मुख मोड़कर भाग्य पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित करते हो। कई निर्मूल, भद्दी और असंगत बातों से दिमाग़ को भरते हो। अहम्मन्यता इसमें कूट कूट कर भरी है। आनन्द के भाव के साथ जहाँ पैसा पैदा करने का भाव तुम में जाग्रत होता है वहाँ तुम एक निकृष्ट व्यवसायी का रूप धारण करते हो। श्रम के पक्ष में एक यही दलील काफ़ी है क्योंकि इसमें तुम एक घृणिततम व्यसन में फँसने से बच जाते हो। अतः सच्चाई से कर्म करो, तुम्हे अनन्त सुख प्राप्त होगा। वह सुख न तो घोड़े की तेज़ रफ्तार से जीता जा सकता है और न गेंद की तिरछी चाल उसे छीन सकती है।

जुए की आदत

अतः सर्वप्रथम तुम अपने देश के प्रति अपनी प्रतिज्ञा को श्रम-द्वारा पूर्ण करो। सदा ध्यान रखो कि बिना आत्म-सम्मान के आपका सारा श्रम व्यर्थ है। "जीवन-शुद्धि और पाप-मुक्ति"[1] ही तुम्हारा लक्ष्य

---

1. "Integer vitae, scebrisque purus" (pure of life

होना चाहिए। तुमने अपना जीवन देश को सौंप दिया है;—अतः ज्वलंत, शुद्ध और पूर्ण वीर जीवन उसके हवाले करो। युद्ध के साधनों में परिवर्तन हो गया है और आज आप को पहले से अधिक जोखिम का सामना करना पडता है पर इसका मतलब यह नहीं कि तुम्हारे चरित्र बल में भी कमी हो। आप अपने को कुछ भी कहे पर आप सच्चे इंसान कहलाने से दूर न भागे। अतः सेना में भर्ती होने पर पहली बात आप के लिए सच्चाई को गले लगाना है। उच्च कुलोत्पन्न युवकों में साहस तो स्वभावतः ही होता है; पर सच्चाई और सभ्यता तो सीखनी पडती है। उन्हें तो तुम ढाल की तरह पीठ पर बाँधो और हृदय-पटल पर अंकित करो। शुद्ध सत्य की प्रतिज्ञा तुम पर लादी नहीं जा सकती; वह तो अन्तरात्मा की आवाज़ है। तुम्हारा शान्त हृदय मानों उस समाधि की तरह है जिसमें परमात्मा सो रहा है।[1] उस धर्म-समाधि-स्थित परमात्मा को पाने के लिए धर्मयुद्ध की घोषणा करो। और सबके पूर्व इस बात को याद रखो—क्योंकि सर्वापेक्षा (यही दुर्गुणों) से तुम्हारी अधिकाधिक रक्षा करने वाली है—कि स्त्री-मात्र के प्रति सदा वफ़ादार रहो। वीर जीवन का यह कठोर सत्य है—सर्वोच्च नियम है। संसार को तुम धोखा दो, पीडा पहुँचाओ, अरक्षित छोड दो पर किसी भी स्त्री को, चाहे वह किसी भी श्रेणी की हो, यथा-शक्ति धोखा मत दो, पीडा मत पहुँचाओ और अरक्षित मत छोड़ो। विश्वास रखो कि मानव-चरित्र की सर्वोच्च दशाओं का प्रत्येक गुण केवल इस एक बात से प्रारम्भ होता है—कुमारियों के प्रति सदा

आत्मसम्मान-हीन जीवन व्यर्थ है

---

and free from guilt) Horace, Ode xxii. I.

१—यहाँ जेरुसलेम—स्थित ईसा की समाधि से संकेत है जिसको मुसलमानों से प्राप्त करने के लिए युरोप के ईसाई राष्ट्रों ने धर्म-युद्ध किये थे।

सच्चाई और सभ्यता—स्त्री-मात्र के प्रति सदा सच्चाई, दया और आदर प्रदर्शित करो।

हे कुमारियो और पत्नियो, जो सैनिकों की आत्मा हो, हे माताओ, जिन्होंने अपने गोद के लालों को युद्ध पर न्यौछावर कर दिया है, आप-सब से भी अब मैं दो-दो बातें करना चाहता हूँ।

माताओं का कार्य

अपने इन प्रियजनों की सहायता के लिए आप क्या बँटाना चाहती हैं? इस पर ज़रा विचार कर उत्तर दो क्योंकि आपके ऊपर ही उनके कर्त्तव्य-पालन का सारा दारोमदार है। आपकी सहायता के बिना वे एक कदम भी आगे नही बढ़ सकते। आप ही उनके आत्मविश्वास की जननी हो।

मैं आपके हृदय को जानता हूँ। विपत्ति में भी आप साथ नहीं छोड़ती। पर आप विपत्ति को नही पहचानतीं। कष्ट-सहन ही आपने अपना कर्त्तव्य समझ रखा है। आत्म-समर्पण और शोक करना ही आपके लिए सब कुछ है। पति और प्रेमी के दिल को आप वियोग के भय से भी नही तोडना चाहतीं। वियोग की दीर्घ-चिन्ता, अज्ञात भाग्य की भयाकुल प्रतीक्षा, दुःख की दसगुनी कटुता और असमय कुंठित सुखी जीवन की अदम्य लालसा से प्रताडित होकर भी आप विचलित नहीं होतीं और न कभी होगी। पर आपकी परीक्षा की ये ही कसौटियाँ नहीं हैं। आप शक्ति का अवतार हो; आपके लिए विपत्ति में निडर होना कोई बडी बात नही है। प्रेम के सम्मुख भाग्य का चक्कर आप पर नहीं चल सकता। स्वर्ग में मिलन की सभावना से आप अमिट वियोग और मृत्यु में भी धैर्य रख सकती है। पर सुख में निडर रहना, जीवन के प्रभाती प्रकाश की चकाचौंध में अचल और सत्पथ पर रहना, भाग्योदय होनेपर परमात्मा को न भूलना, सहायतापेक्षित न होने पर भी विश्वासाश्रितों को

धोखा न देना,—ये सब आपके धैर्य की परीक्षक कसौटियाँ हैं। इनका पालन बड़ा कठोर हैं। केवल वियोग की व्यथा में, युद्ध के खतरे में अथवा रोग की पीडा में ही आपकी लम्बी-लम्बी प्रार्थनाएँ एवं सेवाएँ शोभा नहीं देतीं। देवियो, घमंड की मस्ती मे चूर रहने की अवस्था में अपने युवा सैनिकों के लिए प्रार्थनाएँ करो, दुर्द्धर्ष मन के हाथो कठपुतली की तरह नाचने का भूत सवार होनेपर उनके लिए मिन्नतें करो; मृत्यु के पंजे में फँसने के बजाय प्रलोभन के फंदे में फँसने पर उनके लिए ईश्वर का दरवाजा खटखटाओ। उनपर कड़ी नज़र रखने का यही ठीक समय है। इस धैर्य का भी आपको सर्वोच्च फल मिलेगा। अपने प्रियजनो के जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था और उनके चरित्र का निर्माण आपके ही हाथों में है। आप जैसा चाहो वैसा उन्हें बना सकती हो। वे तो केवल आईने है जिनमें आपका ही प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। आप यदि छिछोर है; तो वे

आपही निर्माता है!

भी छिछोर होंगे। आप यदि उनके कर्त्तव्य को नहीं पहचानती, तो वे भी उसे भूल जायँगे; केवल आपकी कर्त्तव्य-व्याख्या को ही वे सुन सकते हैं। उन्हें आदेश दो—वीर बनें, वे वीर बनेंगे। उन्हें कहो कायर बनें, वे वीर कायर बन जायँगे उन्हें आज्ञा दो—बुद्धिमान बनें, वे महामूर्ख बुद्धिमान बनेंगे, उनकी राय पर हँसो, आपके लिए वे गधे बनेंगे। उनपर आपके एकान्त प्रभाव की यह थोड़ी-सी झलक है। आपका शायद ख्याल है कि स्त्री का शासन पति के घर पर है न कि उसके दिल और दिमाग़ पर। यह बात नहीं है। बात बिल्कुल उलटी है। सच्ची स्त्री तो पति-गृह में उसकी दासी और हृदय में ही उसकी रानी है। उसकी सर्वोच्च भावना की उसे ही प्रतिमूर्ति बनना चाहिए; उसकी महत्तम महत्वाकांक्षा की उसे ही सिद्धि बनना चाहिए। उसकी अज्ञान-कालिमा के लिए वही ज्ञान-सूर्य

है। उसके दुर्गुणों की शुद्धि का वही केन्द्र है। उसकी कमजोरियों को दूर कर वही उसे सत्पथ पर ले जानेवाली है। पति को दुनिया के इस हो-हुल्लड़ में उसी से अपनी प्रशंसा प्राप्त करनी चाहिए और उसे संसार के संग्राम में अपनी शांति का सच्चा स्रोत उसी में पाना चाहिए।

बस, एक बात और कहना चाहता हूँ। आपको आश्चर्य होता होगा कि आज का सारा समय मैंने युद्ध की ही प्रशंसा में लगाया है। यदि संभव हो तो मैं अपनी आवाज़ को हथौड़े की उस चोट मे एक कर दूँ जो तलवारों को कूट-कूट कर हलों का निर्माण करती है। पर न तो आज यह सम्भव ही है और न इसमें मनुष्य का ही कोई दोष है। इसका सारा दोष आप पर है। आपकी आज्ञा और आदेश पर ही हममें परस्पर सिर-फुटव्वल होती है। आज युरोप की छाती पर गरीबी, दरिद्रता और युद्ध के तांडव का सच्चा और अन्तिम कारण केवल यह है कि, हे देवियो, आप कितनी ही सच्ची और साध्वी क्यो न हों, अपने प्रियजनों के प्रति आत्मार्पण की भावना आप में कितनी ही कूट-कूट कर क्यों न भरी हो पर यह सब होते हुए भी स्वार्थ आपकी रग-रग में लहरा रहा है, और अपने दायरे से बाहर आप किसी भी अन्य प्राणी की सेवा नहीं करना चाहती हैं। पर मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यदि युद्ध का स्वाभाविक ढंग किसानों की झोपड़ियो के छप्पर उड़ाने और उनके लहलहे खेतों को बर्बाद करने के बजाय आपकी बैठक के शीशे तोड़ने का रूप धारण करले तो ऐसा कोई भी सभ्य देश नहीं है जहाँ युद्ध एक सप्ताह से भी अधिक टिक सके। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि जिस क्षण आप यह सोचेंगी कि युद्ध बन्द हो उसी क्षण युद्ध बन्द हो जायगा। यह आप से छिपा नहीं है कि युद्ध ने असंख्य अनाथों और विधवाओं को पैदा किया है। हम इतने हृदयहीन हैं कि

उनके साथ दो आँसू भी नहीं बहाते। पर शोक के बाह्य चिह्नों को ही धारण कर हम उनके साथ सहानुभूति तो दिखा सकते हैं। प्रत्येक धर्मपरायण स्त्री को कम से कम यह प्रतिज्ञा तो अवश्य ही करनी चाहिए कि वह बाह्यरूप में ही इन परमात्मा के मृत पुत्रों के प्रति शोक प्रगट करेगी। यदि इतना भी आप न कर सकीं तब तो आपका सारा पूजा-पाठ व्यर्थ है और प्रार्थना-मंदिरों में जाना मानों परमात्मा की खिल्ली उडाना है। हर कुलीन स्त्री को यह व्रत धारण करना चाहिए कि जबतक बर्बर युद्ध की अग्नि धधकती रहेगी तबतक वह शोक-वस्त्रों को धारण करेगी और सजधज से उदासीन रहेगी। यदि आप इतना भी कर सकीं तो मैं फिर दावे के साथ कहता हूँ कि कोई भी युद्ध एक सप्ताह से अधिक नहीं टिक सकता।

आपके लिए अपने धर्मग्रन्थ का विरोध असह्य है। पर यदि आप उसके एक सिद्धान्त पर ही आचरण करें तो फिर आपको उसके विरोध से डरने की जरूरत नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि आप उसके अनुसार आचरण नहीं करतीं और इसीलिए उसकी बाह्य मान-रक्षा के लिए दौड-धूप करती हैं। आपके लिए उसकी भावना के बजाय शब्दों का अधिक महत्व है। उसमें लिखा है—'सीधे-सादे वस्त्रों को धारण करो' पर आप तो तडक-भडक की भूखी है। उसका आदेश है—गरीबों पर दया करो[1], पर आप तो उन्हें पैरों से ठुकराती हैं। उसकी आज्ञा है—विचारपूर्वक

धर्म का आचरण

1. "Jesus said unto him, if thou will be perfect, go and sell all that thou hast, and give to the poor, and thou shalt have treasure in heaven; and come and follow."

—St. Mathew xix 21.

न्याय करो,'[1] पर आप तो न्याय के सच्चे अर्थ को ही नहीं जानतीं और न जानने का प्रयत्न करती हैं। परमात्मा के दिये गये इस थोड़े से सत्य को ही समझो; सोचो कि जब वह आपसे 'न्याय' के लिए कहता है तब उसका क्या मतलब है।[2] फिर अपने बच्चो को भी यह पाठ पढ़ाओ कि वे जबतक न्यायप्रिय, सत्यवादी और आस्तिक नहीं बनेंगे तबतक उनका सारा शौर्य मूर्खों का घमड और उनके सारे कर्म केवल प्रकाश की फिरकी हैं। तभी आपकी आँखों से युद्ध का अंधड सदा के लिए ओझल होगा जो परमात्मा चाहता है—क्योंकि "धर्म-संस्थापन के लिए वह स्वयं युद्ध करता है।"[3]

---

1. "For I know him that he will command his children and his household after him, and they shall keep the way of the Lord, to do justice and judgement."

—Genesis xviii, 19

2. 'Therefore all things whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them, for this is the law of the prophets."

—Matthew xvii, 12

3. "And I saw heaven opened, and beheld a white horse; and he that sat upon him was called faithful and true, and in righteousness he doth judge and make war

—Revelations xix, 11

नोट—हमारे यहाँ भी परमात्मा का अवतार इसी युद्ध के लिए होता है—गीता में कहा है—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥

—अध्याय ४, श्लोक ७-८

[सन् १८६५ ई० के अन्त मे रायल मिलिटरी एकेडमी, ऊलविच के विद्यार्थियों के सामने दिया गया भाषण]

हमारे प्रकाशन

पुस्तकें आपका जीवन बना सकती हैं। पर वे आपका जीवन नष्ट भी कर सकती हैं। इसलिए उनके चुनाव में सावधानी से काम लीजिए।

१—गाँधीवाद की रूप-रेखा	१।।)
२—योग के चमत्कार	१।।)
३—घर की रानी	१।)
४—आनन्द-निकेतन	२।।)
५—भक्ति-तरंगिणी	१।)
६—अहवादी की आत्म-कथा	१।
७—चारुमित्रा	२।)
८—शृंखला की कड़ियाँ	२)
९—हमारे नेता	१।।।)
१०—वेदी के फूल	।।।)
११—स्त्रियों की समस्याएँ	१।।
१२—गाँधी-वाणी	२।।)
१३—नईकला	२)
१४—कन्या	१।)
१५—भाई के पत्र	२)
१६—निबन्ध कला	३।।)
१७—नवजीवन	२।।)
१८—अमृतवाणी	१।।)
१९—जीवन-यज्ञ	२)
२२—भारत का भाग्य	१।।।)
२१—विजय-पथ	१।।।)
२२—नारी—गृहलक्ष्मी और कल्याणी	२)

न केवल आलमारियों की शोभा हैं बल्कि जीवन को शक्ति और प्रकाश देने वाले हैं।

साधना-सदन

इलाहाबाद

कन्या

लेखकः *श्री रामनाथ 'सुमन'*

तीसरा सस्करण तैयार हो रहा है। आठ महीनों में पहला और एक साल में दूसरा संस्करण समाप्त। मूल्यः सवा रुपया।

स्त्रियों की समस्याएँ

लेखकः *म० गांधी*

तीसरा सस्करण। मूल्यः डेढ़ रुपया।

गांधी-वाणी

सपादकः *श्री रामनाथ 'सुमन'*

गाधी जी के जीवन और सिद्धान्तों का दर्पण। सोलह पुस्तकों की एक पुस्तक। मूल्यः ढाई रुपये। (दूसरा परिवर्द्धित, अपटू-डेट सस्करण प्रेस में)

योग के चमत्कार

लेखकः—*श्री रामनाथ 'सुमन'*

योग की गहरी संभावनाओं के सम्बन्ध में अनेक रोचक बातें। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं। मूल्यः डेढ रुपया।

साधना—सदन एक सिद्धान्तवादी प्रकाशन—संस्था है। इसकी पुस्तकें खरीदना जीवन में शक्ति और प्रकाश को आमंत्रण देना है।

श्री सुमनजी का जीवनस्पर्शी साहित्य

१.	गांधीवाद की रूपरेखा (तीसरा संस्करण प्रेस में)	१।।।)
२.	योग के चमत्कार	१।।)
३.	घर की रानी (चौथा संस्करण)	१।)
४.	आनन्द-निकेतन (चौथा संस्करण प्रेस मे)	२।।)
५	हमारे नेता (तीसरा संस्करण)	१।।।)
६.	वेदी के फूल (चौथा सस्करण)	।।।)
७	गांधीवाणी (प्रेस में)	२।।)
८.	कन्या (तीसरा संस्करण प्रेस में)	१।)
९.	भाई के पत्र (आठवा संस्करण)	२)
१०.	जीवन-यज्ञ	२)
११.	नारी-गृहलक्ष्मी और कल्याणी (प्रेस मे)	२)

सा ध ना-स द न

इलाहाबाद